e-ISSN: 2319-8753 | p-ISSN: 2347-6710

IJIRSET

International Journal of Innovative Research in
SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE RESEARCH

IN SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

Volume 11, Issue 7, July 2022

INTERNATIONAL STANDARD SERIAL NUMBER INDIA

Impact Factor: 8.118

9940 572 462 | 6381 907 438 | ijirset@gmail.com | www.ijirset.com

International Journal of Innovative Research in Science, Engineering and Technology (IJIRSET)

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

डॉ. तुलसी राम की 'मणिकर्णिका' का आलोचनात्मक मूल्यांकन

[1]संतोष कुमार & [2]प्रो. राजेश कुमार मल्ल

[1]शोध अध्येता, हिंदी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

[2]सह-शोध निर्देशक, हिंदी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सार

'मणिकर्णिका' डॉ. तुलसी राम की आत्मकथा का दूसरा खंड है। पहला खंड 'मुर्दहिया' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं कि 'मुर्दहिया' को हिंदी जगत की महत्तपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया गया। साहित्य और समाज विज्ञान से जुड़े पाठकों, आलोचकों व शोधकर्ताओं ने इस रचना के विभिन्न पक्षों को रेखांकित किया। शीर्षस्थ आलोचक डॉ. नामवर सिंह के अनुसार ग्रामीण जीवन का जो जिवंत वर्णन 'मुर्दहिया' में है, वैसा प्रेमचंद की रचनाओ में भी नहीं मिलता। 'मणिकर्णिका' में 'मुर्दहिया' के आगे का जीवन है। आजमगढ़ से निकलकर लेखक ने करीब 10 साल बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में बिताये। बनारस में आने पर जीवन के अंत की प्रतीक 'मणिकर्णिका' से ही लेखक का जैसे नया जीवन शुरू हुआ। लेखक के शब्दों में 'गंगा के घाटों तथा बनारस के मंदिरों से जो यात्रा शुरू हुई थी, अन्ततोगत्वा वह कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में समाप्त हो गई। मार्क्सवाद ने मुझे विश्वदृष्टि प्रदान की, जिसके चलते मेरा व्यक्तिगत दुःख दुनिया के दुःख में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठा। मुर्दहिया में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे मणिकर्णिका में विकसित हुए।' लेखक ने अपने जीवनानुभवों का वर्णन करते हुए उस खास समय को भी विश्लेषित किया है जिसके भीतर प्रवृत्तियों का सघन संघर्ष चल रहा था। बनारस जैसे इस कृति के पृष्ठों पर जीवन हो उठा है। इस स्मृति-आख्यान में कलकत्ता भी है, अनेक वैचारिक संधाभों के साथ। 'मणिकर्णिका; डॉ. तुलसी राम के जीवन-संघर्ष की ऐसी महागाथा है जिसमें भारतीय समाज की अनेक संरचनाएँ स्वतः उद्घाटित होती जाती हैं।

मणिकर्णिका प्रसिद्ध दलित साहित्यकार डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का दूसरा भाग है। हिन्दी दलित आत्मकथाओं में डॉ. तुलसीराम का 2010 में प्रकाशित पहला खण्ड 'मुर्दहिया' एवम् दूसरा खण्ड 2013 में 'मणिकर्णिका' दलित समाज की त्रासदी और भारतीय समाज की विडम्बना का सामाजिक, आर्थिक और राजनितिक आख्यान है। यह कृति समाज, संस्कृति, इतिहास और राजनीति की उन परतों को उघाड़ती है जो अभी तक अनकहा और अनछुआ था। बौद्धिकों को भारतीय समाज के सच का आइना दिखाती है कि देखो 21वीं सदी के भारत की तस्वीर कैसी है? ये केवल एक आत्मकथा भर नहीं, अपितु पूरे दलित साहित्य की पीड़ा का यथार्थ रूप है, उनकी भोगी हुई अनुभूति है।

दरअसल 'मणिकर्णिका' बनारस का वह घाट है, जहाँ मुर्दे को बांधकर अंतिम संस्कार के लिए इस आस में लाया जाता है कि यहाँ से उसे सीधे स्वर्ग में स्थान मिलेगा। वैसे बनारस के बारे में एक और धारणा प्रचलित है कि यहाँ कोई भूखा नही रहता, पर यहाँ आते ही डॉ. तुलसीराम ने इस मान्यता को स्वयं ध्वस्त होते हुए देखा, उन्होंने यहाँ एक-दो दिन की भूख नहीं बल्कि लगातार पूरे नौ दिनों तक भूख सहने पर मजबूर होना पड़ा। गंगा के घाट में भूखों की लंबी कतार देखकर उनके मन से अचानक आवाज़ आई कि "गंगा पापी का पाप तो धो सकती है, पर भूख को नही।"

इस किताब में डॉ. तुलसीराम ने बनारस के प्रसिद्ध घाटों और मंदिरों का चित्रण करते हुए यहाँ के पंडों के पाखंड और कारोबार का वर्णन करते हुए बताया कि वे कैसे कृष्ण की भक्ति का बखान करते हुए तथा भूत उतारने के बहाने महिलाओं का शोषण का शिकार किया करते हैं। स्पष्ट है कि इस किताब में लेखक के जीवन की व्यक्तिगत पीड़ा मात्र का वर्णन नहीं है, बल्कि इसमें वे महज़ एक पात्र है, जो किसी फ़िल्मी केमरे की तरह निरपेक्ष किन्तु सभी घटनाओं को प्रस्तुत करने का आवश्यक माध्यम है। इसमें 70 के दशक की विभिन्न राजनीतिक धाराओं यथा मार्क्सवाद, समाजवाद, नक्सलवाद का दर्शन और खासकर उनके समकालीन इतिहास का ऐसा रोचक और सजीव चित्रण है, जो आज की पीढ़ी के लिए अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, राज नारायण और इंदिरा गाँधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं का छात्र राजनीति पर असर का भी विवरण है।

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

परिचय

बीते 13 फरवरी 2015 को हिन्दी साहित्य की एक ऐसी क्षति हुई जिसकी भरपाई हो पाना नामुमकिन है। तुलसीराम का जन्म आजमगढ़ के धरमपुर में एक जुलाई 1949 को हुआ था। प्राथमिक शिक्षा गाँव से ही हुई। आगे की पढाई बी एच यू और जवाहर लाल नेहरू विश्व विद्यालय से हुई। फिर ये जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में ही अध्यापन करने लगे। [1]

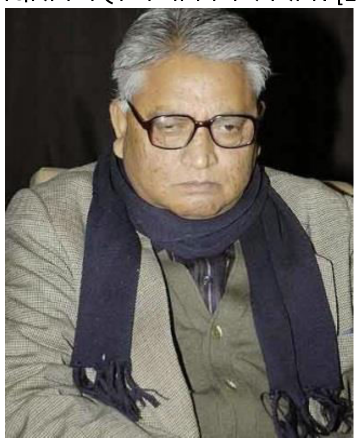

तुलसीराम

तुलसीराम बौद्ध धर्म और दर्शन के गंभीर अध्येता थे। उनका व्यक्तित्व और दलित चिंतकों से पूरी तरह अलग था। दरअसल वे इसके मूल में था उनका फक्कड़ाना स्वभाव जो उन्हें कबीर से मिला था। बचपन से ही वे सवर्णों की अनेक प्रताड़नाओं के शिकार हुए इसीलिए वे जाति व्यवस्था के घोर विरोधी थे। लेकिन वे भारत की हकीकत को जानते थे। उन्हें पता था कि भारत नामक देश की यह जो इमारत है उसकी दीवालों से लगायत छत तक जाति, धर्म, वर्ग जैसी मकड़ी के वैसे जाले फैले हुए हैं जिससे पार पाना बहुत दुष्कर है। यहाँ के लोग जब तक अपनी कुंठित जातिवादी मानसिकता को नहीं छोड़ेंगे तब तक सच्चे मायनों में एक आधुनिक प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक भारत का निर्माण संभव ही नहीं। वे स्वभाव में अत्यंत सहज और सरल थे इसीलिए एक प्रतिबद्ध इमानदारी उनके अन्दर थी। तभी तो जहाँ एक तरफ तुलसी राम अपने लेखन में ब्राह्मणवाद पर प्रहार करते हैं वहीँ दूसरी तरफ शोर-शराबा करने वालों से अलग वे दलित साहित्य और राजनीति की सीमाएं रेखांकित करना भी नहीं भूलते।[2] वर्ष 2010 में जब उनकी आत्मकथा का पहला भाग 'मुर्दहिया' छपा तो चारो तरफ तुलसी राम जी की ख्याति फ़ैल गयी। हालांकि वे मूलतः अंतर्राष्ट्रीय संबंधों खासकर रुसी मामलों के विशेषज्ञ थे। लेकिन मुर्दहिया के लेखन से ऐसा लगता ही नहीं कि वे मूलतः साहित्य के नहीं थे। मुर्दहिया के लोकार्पण में वरिष्ठ आलोचक प्रोफेसर नामवर सिंह ने इसे उपन्यास जैसा ही रोचक बताया। अभी हाल ही में उनकी आत्मकथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' नाम से आया है। अभी इसका तीसरा भाग आने वाला था। तुलसी राम जी के न होने से अब यह नामुमकिन है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कई महत्वपूर्ण काम किये हैं जिनमें 'अंगोला का मुक्ति संघर्ष' , 'एआईएः राजनीतिक विध्वंस का अमरीकी हथियार' , 'द हिस्ट्री ऑफ़ कम्युनिस्ट मूवमेंट इन ईरान' , 'पर्सिया टू ईरान' (वन स्टेप फारवर्ड टू स्टेप्स बैक) तथा 'आइडियोलॉजी इन सोवियत-ईरान रिलेशन्स' (लेनिन टू स्टालिन) आदि प्रमुख हैं। तुलसी राम जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए हम प्रस्तुत कर रहे हैं मुर्दहिया पर श्रीराम त्रिपाठी का एक आलेख।

डॉ. तुलसीराम की लेखनी की एक और विशेषता जो उन्हें तमाम दलित लेखकों से अलग करती है, वह उनके अचेतन पर बुद्ध का गहरा प्रभाव है। उनके जीवन के हरेक पल खासकर निर्णायक क्षणों में बुद्ध हमेशा सामने आते हैं। वे बताते हैं कि जब उन्हें सारनाथ जाने का मौका मिला, वे वहाँ बुद्ध की प्रतिमा को देख भावुक हो गये… बुद्ध का प्रथम उपदेश, जो उन्हें मुंह जबानी याद था, को वे मन ही मन दोहराते रहे। वे बताते हैं कि भूख और ग़रीबी से मजबूर होकर एक बार उनके मन ने उन्हें चोरी करने पर मजबूर किया, पर बुद्ध की शिक्षा ने उन्हें इस घटना को दोबारा नही करने का अटूट संकल्प दिया जो जीवन भर कायम रहा। अश्वघोष रचित 'बुद्धचरित' उनके मन में पूरी तरह बैठा हुआ था।[3]

गीत और कविताएं शायद डॉ. तुलसीराम के जीवन का अभिन्न अंग रहे हैं, और यही कारण है कि 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' दोनों की ही लेखन शैली में ऐसी लय और बहाव है कि पाठक इसमें खुद को लगातार बहने से नहीं रोक सकता। खुद लेखक ने भी ज़िक्र किया है कि एक बार उन्हें प्रो. नन्दुराम जो बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के पहले और उस वक्त के एकमात्र आम्बेडकरवादी प्रोफ़ेसर थे, ने सलाह दी थी कि कविता लिखने से कुछ नहीं होता, इसे छोड़ विचारात्मक गद्य लिखा करो… बेशक ये किताबें गद्य तो हैं, पर इनमें गीतों की तरह एक ऐसा बहाव है जो इनसे पाठकों को बांधे रखता है, यदि किसी ने गलती से भी इनका एक भी पन्ना पढ़ लिया तो वह इन्हें पूरा किये बिना नहीं छोड़ सकता।

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

'मणिकर्णिका' यद्यपि डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा है, परन्तु इसमें उनके द्वारा प्रयुक्त 'मैं' एक व्यक्ति नहीं बल्कि हर पल बुद्ध के दर्शन से पूर्णतः प्रभावित एक अम्बेडकरवादी है, जिसके हर निर्णय और कार्य की पृष्ठभूमि इसी दर्शन से प्रभावित है, यह किताब अन्य आत्मकथाओं की भांति व्यक्तिगत पीड़ा नहीं बल्कि तत्कालीन समाज का सम्पूर्ण विवरण है, बेशक प्रो. तुलसीराम की यह रचना इसे अब तक कि प्रकाशित तमाम आत्मकथाओं से अलग और विशिष्ट बनाती है। इस किताब के अंत में डॉ. तुलसीराम ने प्रीति करे ना कोई नामक शीर्षक में अपने जीवन के प्रेम प्रसंगों का सहज वर्णन किया और इससे उपजी निराशा और हार उन्हें 'मणिकर्णिका' , जहाँ अंतिम संस्कार होता है, के सामान ही लगती है ... वे सोचते हैं 'प्रेम में असफलता क्रान्ति की सफलता की गारंटी नहीं होती।' किताब में उन्होंने अपने चिर-परिचित अंदाज़ में कविताओं को मनोरंजक तरीके से प्रस्तुत किया है। जब कभी दर्द-तकलीफों को पढ़ते हुए मन में जब मायूसी आ जाती है, तब वही कहीं-कहीं उनकी कविताएं यहाँ सामने आकर हँसने पर मजबूर कर देती है,[4] जैसे-

मैं हो चुका हूँ
गलतफहमियों का
इस कदर शिकार।
जब कोई कान
खुजलाने के लिए
उठाता है हाथ,
तो मैं कहता हूँ नमस्कार।

हर साहित्यकार अपने समय से रूबरू होता है, मतलब कि अपने समय को पहले अय करता है फिर वियता-व्ययता है। इसी तरह वह अपने समय के वाद को अवाद कर ही विवादता है, इस आस में कि वह सम्वाद बन जाए। मतलब कि हर कोई उसकी बात को स्वीकार ले। आज के समय का वाद भोगना न होकर उपभोगना है। भोगना कठिन और उपभोगना आसान है। जैसे कि फल खाना आसान है और फल खाने के बाद पेड़ लगाना कठिन। इस तरह केवल फल खाना उपभोग है, जबकि पेड़ लगाना और फल खाना भोग। इस तरह सर्जक ही भोक्ता होता है, बक़िया उपभोक्ता। भोक्ता के जेहन में और जिस्म पर खाने का केवल स्वाद ही नहीं होता है, बल्कि पकाने का चिह्न भी होता है। ऐसे दौर में सर्जन जैसे कठिन काम को अंजाम देना वाक़ई दुरूह है। ऐसे लोगों का सम्मान ज़रूर किया जाना चाहिए, मगर इसका ख़याल रखते हुए कि क्या लेखक ने सचमुच ही दुरूह काम किया है! कहीं ऐसा तो नहीं कि उपभोक्ता ने ही भोक्ता का रूप धर लिया। जब वस्तु और रूप की एकता ख़त्म हो जाती है, तब धोखे की गुंजाइश बढ़ जाती है। इस तरह यह छलवादी दौर है। भ्रम फैलाता है। उसने भाषा को ही भाषा के विरुद्ध कर दिया है। मतलब कि व्यक्ति को ही व्यक्ति का विरोधी बना दिया है। जब हम ख़ुद के विरोधी हो जाएँ, जब हमें ख़ुद पर ही विश्वास न रहे, ऐसे में हम कितना भयभीत होंगे! हर समाज अपनी श्रेष्ठता की कसौटियों पर कसकर ही किसी को सम्मानित करता है। इसलिए साहित्य समाज को भी अपनी श्रेष्ठता की कसौटी पर कस कर ही किसी साहित्य को सम्माननना चाहिए।

कहा जाता है कि पूँजीवाद में उपन्यास का वही स्थान है, जो सामंतवाद में महाकाव्य का होता था। हिन्दी में ऐसे उपन्यास तो मुश्किल से दर्जन भर ही लिखे गए। यूँ तो उपन्यासों की भरमार है, मगर वे उपर्युक्त कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इधर दृष्टि का विस्तार तो बढ़ा है, मगर गहराई कम हुई है। इस तरह दृष्टि की सम्-घनता (जिसके तीनों आयाम समान हों) बाधित हुई है। साहित्य का मापक संघन होता है सघन नहीं। परंतु आजकल तो 'सघनता' ही साहित्य की मापिया बन गयी है। अनुनासिक का लोप अकारण नहीं हुआ। गहनता अपने आप में तकलीफ़देह होने के साथ तीव्रता की बाधक है। तीव्रता तो हल्केपन से आती है। सो गहनता को लुप्त करने के लिए अनुनासिक का लोप किया गया, जिससे 'सघन' स्थापित हो गया। चरवादी की नज़र ज़मीन के ऊपर के फल पर होती है, जबकि किसान की ज़मीन के भीतर से लेकर फल तक। वह ज़मीन और फल को गुणते हुए गहता-गहनता है, इसीलिए संघनता है, सघनता नहीं। जो जितना ही गहे-गहनेगा उसकी गति उतनी ही मंद होगी। तीव्र नहीं हो सकती है। वह तो कछुआ ही साबित होगा, ख़रगोश नहीं। कैसी विडंबना है कि हम बचपन में पठित कहानी के ठीक विरुद्ध गति कर रहे हैं। मानो वह बचपने को प्रकट करती हो, जबकि हम तो पोढ़ हो गए हैं। इन पोढ़ और सघन लोगों की मजबूती क्या छिपी हुई है! कैसी विडंबना है कि हल्केपन की ओर भागते हुए हम अपने को भारी समझ रहे हैं। इसी क्रम में आज उपन्यासों की बाढ़ है, मगर उनमें से कितने सचमुच के उपन्यास हैं। आकाश (अ-अकाश) में उड़तों को अवकाश कहाँ! उन्-नति श्रेष्ठ है, या अव-नति। इस तरह हम निरंतर मिट्टीहीन होकर उथले और हल्के होते जा रहे हैं। ऐसे में हमारी रचना भारी और संघन हो तो कैसे! इस प्रकार बाज़ार का हल्कावाद पूरे वातावरण में गूँज रहा है, जिसके आगे सचमुच के सर्जक की आवाज़ गुम है। उसकी आवाज़ सुनने के लिए समय और श्रम चाहिए, जो किसी के पास नहीं। फिर सर्जक और सर्जन की बात करे तो कौन![5]

अगर उपन्यास-कहानी लगने-अलगने का सातत्य है, तो आत्मकथा और संस्मरण केवल लगने का। इसका मतलब है कि हम अपने में सिमट गये हैं। ये विधाएँ श्रेष्ठ विधाएँ नहीं हैं, यह जानते हुए भी हम साहित्य की गिरावट के पीछे के कारणों की छानबीन नहीं कर रहे, बल्कि इनकी स्थापना में ही लगे हुए हैं। इस पर चर्चा नहीं कर रहे कि आत्म की कथा को हम परात्म की कथा क्यों नहीं बना पा रहे। साहित्य तो आत्म और परात्म का, भुक्त और दृष्ट का गुणन होता है, जिससे पाठक में भी गुणशीलता प्रवाहित होती है। कौन नहीं जानता कि उपन्यास-

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

कहानी की बनिस्बत आत्मकथा और संस्मरण लिखना आसान है! इस तरह आसान काम को श्रेष्ठ साहित्य के रूप में सम्मानित किया जा रहा है। क्या यह साहित्य की पतन नहीं है? उपभोक्तावाद ने हमारे सर्जक को भी जकड़ लिया है। विडंबना यह है कि यह जकड़न हमारे सर्जक को पीड़ने के बजाय आनंदित करती है। ख़ूब! बहुत ख़ूब! कविता में आत्म की मात्रा अधिक और परात्म की कम होती है। गद्य में आत्म की मात्रा कम और परात्म की ज़ियादा होती है। प्राचीन कविता की लय पाठक को वहती-वहाती थी, इसीलिए पाठक को भी आनंदित करती थी। गद्य की लय द्वंद्वात्मक होती है। वह पाठक को न वहती है, न वहाती। वह तो पाठक को ख़ुद अपने अनुसार वहने-वहाने को प्रेरित करती है। कविता के बाद दलित साहित्य, जो आत्मकथा के रूप में प्रकट हुआ, इसके मूल में वही आत्म तत्त्व की प्रधानता कारणभूत रही। अत्यंत विषम परिस्थितियों से संघर्षित जीव जब गौरवान्वित जगह पर पहुँचा, तो उसे वह गौरव नहीं मिला, जो उस जगह के दूसरे लोगों को मिलता था। एक ओर तो यह पीड़ा उसे सालती थी, तो दूसरी ओर आश्वस्त भी करती थी। आधुनिक साहित्य का सबसे बड़ा मानक संघर्ष है। जिसमें जितनी संघर्ष-क्षमता होगी, वह उतना ही महान साहित्य होगा। इसी मानक ने उनके वास्तविक संघर्ष को अतिशयी बनाया। ज़ियादातर दलित आत्मकथाएँ इन्हीं भावों के द्वंद्व की संरचनाएँ हैं। दलित लेखकों के पास आत्म-पीड़ा को परात्म-पीड़ा में रूपांतरित करने का अवकाश नहीं था। ऐसे में आवेगपूर्ण आत्मकथा ही लिखी जा सकती थी। ऐसी आत्मकथा, जो अनगढ़ होने के कारण अन्य आत्मकथाओं से भिन्न थी। इसीलिए ध्यान आकर्षित करती थी। इधर दलित साहित्यकार अपने भूतकालीन आत्म से निजात पाने की कोशिश में समकालीन हो रहा है। इसलिए वह भले ही अपनी रचना को आत्मकथा का नाम दे रहा हो, मगर वह आत्मकथा के साथ परात्म कथा भी लिख रहा है, जिसमें मैं और पर का द्वंद्व लक्षित होता है। हाँ, अभी वह प्रथम पुरुष के माध्यम से प्रकट कर रहा है, उम्मीद है कि कल वह अन्य पुरुष के माध्यम से भी प्रकट करेगा। ऐसा कहने का आधार 'मुर्दहिया' है, जिसका लेखक साहित्यिक न होकर दार्शनिक है। हो सकता है कि उसकी दार्शनिक प्रवृत्ति ने ही उसे अपने भूतकालीन संघर्षों से जोड़े रख कर उसका दर्शन करने को प्रेरित किया हो। इसीलिए यह कृति आत्मकथा होते हुए भी औपन्यासिक कृति का एहसास कराती है। इसमें प्रकट 'मैं' एक चरित्र होने के साथ लेखक का 'मैं' भी है। इसमें लेखक का आत्म सिकुड़ने के साथ विस्तरता भी है, जिसमें व्यक्तिगत पीड़ा के साथ-साथ दूसरों की पीड़ा भी नज़र आती है। वह इस व्यवस्था से संघर्ष करने को प्रेरित करता है, जो मानव जीव को उसकी क्षमता के अनुसार विकसने से रोकती है। इसीलिए यह कृति जाति जैसी रूढ़ियों (मृत) की अपेक्षा उन जीवंत जीव-विरोधियों से टकराती है, जो जीव के विकास में बाधक बनती हैं। जो समाज सदियों से अपनी असह्य पीड़ा को वण नहीं पा रहा था, जिसकी पीड़ा को दूसरों ने वणा, अब वह इसमें समर्थ हुआ है। जिन दूसरों ने उनकी पीड़ा को वाणी दी थी, उन्होंने ही उनकी वाणी का स्वागत करते हुए हौसला बढ़ाया। द्वंद्व ही साहित्य की धड़कन है। भाव और विचारों का रूपांतरण महज़ भाषा में ही नहीं, चरित्रों में भी होता है। लेखक को ही विभिन्न चरित्रों में रूपांतरित होना होता है, न कि किसी और को पेश करना। ऐसे में लेखक के विभिन्न क्रिया-कलाप ही रचना को प्रवहते और प्रवाहशील बनाते हैं। इसे से पाठक भी संचरित होता है। पहले तो वह पाठक को वहता है, फिर पाठक उसको। कोई भी रचना जितना ही पाठक को प्रवहेगी, पाठक द्वारा उतना ही प्रवही जायेगी। आज के हिन्दी साहित्य में उपन्यास की अपेक्षा आत्मकथा और संस्मरण अधिक प्रभावशाली ढंग से लिखे जा रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि अपन्यास की अपेक्षा ये विधाएँ ज़ियादा प्रभावशाली हो गयी हैं। मनुष्य का लक्ष्य है जटिल जीवन को सरल करना। उसके एक-एक रेशे को अलग करना। जिस विधि से यह सरल किया जाता है, वह भी जटिल ही कहलाता है, क्योंकि उसी के द्वारा जटिलता सरलता में तब्दील हुई। विविध जीवन की विविध जटिलताओं को सरल करना एकविध नहीं, विविध ही हो सकता है, जो नहीं हो रहा है। उपन्यास-विधि आत्मकथा और संस्मरण की अपेक्षा कठिन और जटिल होने के बावजूद आत्मकथा और संस्मरण से पिछड़ रही है। कारण कि ये विधाएँ अपनी गुणवत्ता में विकास कर रही हैं, जबकि उपन्यास में ऐसा नहीं हो रहा। स्पष्ट है कि हम जटिलता और कठिनता से भाग रहे हैं। इस प्रकार उपन्यास विधा ह्रासोन्मुख है, कहना ग़लत न होगा। हमारी चिंता उस नुक्ते पर है, जो समकालीन साहित्य को पिछले साहित्य से बेहतर नहीं बना रही। मतलब कि रचनात्मकता का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है। क्या कविता-नाटक, क्या कहानी-उपन्यास। ऐसे में आलोचना की बात उठाना बेमानी है। तो विकासोन्मुख विधा आत्मकथा को तुलसीराम की 'मुर्दहिया' निश्चित रूप से और विकसित करती है, क्योंकि यह आत्म की कथा होने पर भी अपने आत्म को अतिक्रमित करती है। इसका आवेग संतुलित है। जबकि ज़ियादातर आत्मकथाएँ आत्म में सिमटी आवेगपूर्ण होती हैं, जिससे आवेग का प्रस्फुटन अच्छे-बुरे सब को नष्ट कर देता है। शायद इसी कारण इस आत्मकथा को आलोचकों ने उत्तर आधुनिक कहा है। उत्तर आधुनिकता के मर्मज्ञों का कहना है कि जहाँ सारी विधाएँ एक-दूसरे में घुल-मिल जाएँ, तो उसे उत्तर आधुनिक समझ लीजिए। मतलब कि जहाँ विधागत कोई बंधन न हो। उत्तर आधुनिकता मान्य रूपों को नकारती तो है, मगर किसी अन्य रूप को स्थापित नहीं करती, जिससे नाम (संज्ञा) की ज़रूरत ही नहीं रहती। इस तरह उत्तर आधुनिकता ऐसी मानहीन दुनिया का निर्माण करता है, जिसमें अच्छा-बुरा, सही-ग़लत कुछ नहीं होता। 'मुर्दहिया' में जो जीवन का सतत प्रवाह है, वह जो भी रूप बनाता है, सतत परिवर्तनशील है। हाँ, उसमें पिछले रूप का अक्स ज़रूर दिखता है। 'मुर्दहिया' आत्मकथा है, या उपन्यास? इसका जवाब तो नि-संदेह आत्मकथा ही होगा। एक श्रेष्ठ आत्मकथा, जिसमें आत्म का जो रूप उभरता है, वह अपने परिवेश की त्रासदी को ख़ुद तक ही नहीं सीमित करता, अपितु उन तमाम लोगों तक विस्तृत करता है जो इसके शिकार हैं। इस तरह यह 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' से एकदम भिन्न होने के कारण आत्मकथा के नये मापक की माँग करती है। [6]

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

जिसे हम वातावरण कहते हैं, वह वात का आवरण भी है और बात का वरण (वर्ण) भी। आज बात के आवरण और वरण को ही भेदना है। वाल्मीकि ने इसी तरह षाद (साद-खाद) को निषाद (निसाद-निखाद) किया था। अन्यथा तो क्रौंच को मारकर खाना सिद्ध ही था, निषिद्ध तो वाल्मीकि ने किया। बात पर जब कई आवरण चढ़ा-चढ़ाकर कठोर कर दिया जाता है, तब उसे तोड़ने की ज़रूरत पड़ती है। वाल्मीकि ने उसी कठोर बात को तोड़ा था, जिससे करुणा की धार बही थी। तुलसी राम बात की कठोरता को तोड़कर जीवन की धार बहाते हैं। जातिरूपी कठोर बात के भीतर भारतीय जीवन सिसक रहा है। तुलसी राम ने उसे भोगा भी है और देखा भी है। वे दोनों को गुणते हैं, इसीलिए संतुलित होते हैं। उनकी स्थिरता में भी प्रवाह है। एक गति, जो जीवन की गति है उसमें लय भी हो जाते हैं और उसे लयित भी करते हैं। तुलसी राम ऐसा दलित है, जो सवर्णों के साथ-साथ दलितों द्वारा भी दला गया। काले चेहरे पर चेचक के दाग़ और एक आँख के चले जाने पर वह अपने सगे चाचा नग्गर द्वारा ही अपशकुन क़रार दिया गया। परायों की अपमानना उतनी नहीं पीड़ती, जितनी अपनों की। तुलसी अगर कहीं से प्रेरणा और स्नेह पाता है, तो वह माँ और दादी हैं। अगर वे न होते तो तुलसी का जीना मुहाल हो जाता। ऐसे में दादी और माँ की युगीन शृंखला, उसकी सृजन-शक्ति बन जाती है।

तुलसी राम ने जीव और जीवन को आत्मसात किया है। वे जीवन-दृष्टि से सम्पन्न हैं, इसीलिए जाति के साथ-साथ दलित आत्मकथाओं के बाड़े को भी तोड़ते हैं। इस तरह वे वाल्मीकि की परम्परा में खड़े नज़र आते हैं। जिस तरह वाल्मीकि की 'रामायणम्' का ब्राह्मणवादी पाठ स्वीकार कर दलितों ने 'रामायणम्' और वाल्मीकि को ही त्याग दिया, कहीं उसी तरह 'मुर्दहिया' [7] और तुलसी राम भी त्याग न दिये जाएँ। तुलसीराम के लेखे भारतीय समाज में अज्ञान का बोल-बाला है। क्या सवर्ण और क्या अवर्ण। जिसे ज्ञानी समाज कहा जाता है, वह 'आधुनिक पंडों' के हवाले है। उस समाज की रूढ़ियाँ सहजता से निम्न समाज में आरोपित हो जाती हैं। निम्न समाज अत्यंत उर्वर होता है, जिसे उच्च वर्ग दबा-दबाकर कठोर बना देता है। इस तरह एक त्रसित दूसरे को त्रासकर संतुष्ट होता है। पूरी कथा में विकासशील चरित्रों की कमी इस बात का द्योतक है कि आज भी 'आधुनिक पंडों' का ही बोलबाला है। इस कठोर आवाज़ को तोड़ने के लिए कई तुलसी राम की ज़रूरत है। इस प्रकार 'मुर्दहिया' मौजूदा चलन का विचलन है। तुलसी राम दार्शनिक हैं, साहित्यकार नहीं। हाँ, दर्शन के लिए उन्हें साहित्य के पास ही जाना पड़ता होगा, क्योंकि भारत का वास्तविक इतिहास तो साहित्य ही है। 'महाभारत' अथवा 'रामायण' में जो हमें ऊपर-ऊपर दिखता है, हम उसे ही सत्य मान लेते हैं। औजारों से लैश एक-दूसरे से लड़ते लोगों को देखते और ताली पीटते हैं। उन औजारों के निर्माता को खोजते ही नहीं। निर्माताओं ने उन औजारों को क्या मनुष्यों से लड़ने के लिए बनाया था- ऐसे सवाल ही नहीं करते। औजारों से लैश तथाकथित उन ताक़तवर योद्धाओं के भीतर अन्न-जल, दूध-घी पहुँचाने वालों को खोजते ही नहीं। कहाँ हैं वे, किस हाल में हैं? तुलसी राम 'मुर्दहिया' नामक ऊसर टीले को गुणते-गोड़ते हैं। मतलब कि उपजाऊ बनाते हैं, जिसमें जीवन लहलहाता है। बाहर से जीवहीन लगती मुर्दहिया के भीतर तरह-तरह के लोग एक-दूसरे के साथ-साथ अपने बाहरी वातावरण से संघर्ष करते हैं। मेरे मन में एक सवाल कुलबुलाता है कि एक सम्मानित दार्शनिक अपना प्रिय विषय छोड़कर साहित्य में क्यों और कैसे कूद पड़ा? क्या उसका मन दर्शन से ऊब चुका था, या साहित्य में भी हाथ आजमाने की इच्छा जगी? साठ के आस-पास की उम्र में ऐसा होना मुमकिन नहीं। कम से कम तुलसी राम जैसे दार्शनिक से तो नहीं ही। एक दार्शनिक मूलतः अपने समय को दर्शता है। इसी प्रक्रिया में तुलसी राम ने देखा (दर्शा) कि उनके जैसे जीवन जीने वालों ने अपनी आत्मकथा लिखी है, जिसमें आक्रोश ही आक्रोश है। ध्यातव्य है कि उन आत्मकथाओं के लेखक उन समस्याओं से उबरने के बाद अपना आक्रोश व्यक्त कर रहे थे। उनके आक्रोश न विखंडनात्मक थे, न सृजनात्मक। तुलसी राम भी उसी समाज की उपज हैं। ज़ियादातर दलित आत्मकथाएँ युवाओं द्वारा लिखी गयीं, पोढ़ों (प्रौढ़ों) द्वारा नहीं। कोई पोढ़ व्यक्ति ही अपने समुदाय की ग़लतियों को सुधारता है। वह जानता है कि हमें जो स्थितियाँ मिली हैं, उन्हीं के अंतर्गत रहते हुए उन स्थितियों को बदलना है। इतना जटिल और कठिन काम आक्रोश के बूते मुमकिन नहीं। [8]

इसलिए मानो वे दलितों के आक्रोश को संतुलित करते हैं। मतलब कि उसमें अपने दर्शन को शामिल करते हैं। वे साफ़ तौर पर देखते हैं कि समस्या की जड़ अज्ञान है। इसीलिए वे 'मुर्दहिया' का आगाज़ इस तरह करते हैं, "मानव जाति का वह पहला व्यक्ति जो जैविक रूप से मेरा खानदानी पूर्वज था, उसके और मेरे बीच न जाने कितने पैदा हुए, किन्तु उनमें से कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं था। लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व यूनान देश से भारत आए मिनांदर ने कहा कि आम भारतीयों को लिपि का ज्ञान नहीं है, इसलिए वे पढ़-लिख नहीं सकते। उसके समकालीनों ने तो कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, किन्तु आधुनिक भारतीय पंडों ने मिनांदर का खूब खंडन-मंडन किया। हकीकत तो यह है कि आज भी करोड़ों भारतीय मिनांदर की कसौटी पर खरा उतरते हैं। सदियों पुरानी इस अशिक्षा का परिणाम यह हुआ कि मूर्खता और मूर्खता के चलते अंधविश्वासों का बोझ मेरे पूर्वजों के सिर से कभी नहीं उतरा...।" 'जैविक रूप से मेरा खानदानी पूर्वज था, उसके और मेरे बीच' 'कोई पढ़ा-लिखा नहीं था।' यहाँ व्यक्त 'मेरा' में एकवचन की नहीं, बहुवचन की ताक़त है। भारत के तल की हक़ीक़त है यह। मिनांदर बाहरी व्यक्ति था। प्रवासी। प्रवासी का सरोकार स्ववासी की तरह न होने के बावजूद मिनांदर ने जो कहा वह तत्कालीन भारतीय समाज के तल का सत्य था, जिसे तत्कालीनों ने खंडित नहीं किया। तो क्यों? इसलिए कि यह हाथ-कंगन था। इसका मतलब है कि लिपि का ज्ञान चंद लोगों को ही था। बहुत लोग इससे वंचित थे। इसीलिए तत्कालीन विद्वानों ने इसका विरोध नहीं किया। विद्वान तो कड़वी से कड़वी सचाई को भी स्वीकारता है। यहाँ तत्कालीन विद्वानों के प्रति अवमानना का लेश मात्र भी नहीं है, जो तुलसी राम की गहनता और संतुलन का परिचायक है। साहित्य का लक्ष्य तो चंदों-बहुतों का भेद ख़त्म करके सभी (सभ्इअ, सभ्य) तक है। अगर एक व्यक्ति भी ज्ञान से वंचित

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

रहता है, तो साहित्य इसका विरोध करेगा। वह सभी का हित चाहता है, चंदों-बहुतों का नहीं। यहाँ तो बहुत लोग वंचित थे। 'आधुनिक भारतीय पंडों' में तीनों शब्द क़रारे व्यंग्य हैं। पुराने मिनांदर के कथन का खंडन-मंडन पुरानों द्वारा न होकर आधुनिकों द्वारा हो रहा है। मतलब कि ये आधुनिक जामे में पुराने लोग हैं। ये भारतीय (राष्ट्रीय) नहीं, पुराने भारत उप महाद्वीपीय हैं, जिसमें कई देश हुआ करते थे। सचाई को नकारने वाले सम्मान के हक़दार कैसे हो सकते हैं! इसीलिए उन्हें 'आधुनिक पंडों' से अपमाना गया है। पंड का मतलब तालाब भी होता है और पाड़ा भी। भैंस और पाड़े को पानी बहुत प्यारा होता है। कहते हैं न कि 'गइलि भँइसिया पानी में।' अब उसका निकलना मुश्किल है और अगर निकलेगी तो कीचड़ में लिथड़ी। तो ये पंडे कीचड़ को मंडते हैं, तभी तो 'कूप मंडूक' कहकर कूप की खिल्ली उड़ाते हैं, जब कि पानी पीने के लिए उसी के पास जाते हैं। ये स्वच्छ को उपभोगते और गंदगी को प्रसारते हैं। इसीलिए सम्मान के नहीं, अपमान के पात्र हैं। आत्म का आलोचक ही स्वच्छ होता है। तुलसी राम की 'मुर्दहिया' आत्म का आलोचन करती है, इसीलिए सामान्य आत्मकथाओं से अलग और विशेष है। इस प्रकार 'मुर्दहिया' का प्रारम्भ ही लेखक के सरोकार, भाषा-कौशल और गहन तथा विराट दृष्टि को कितनी साफ़गोई से प्रकट देता है। 'सुरसरि सम सब कर हित होई' के कथन में नहीं, उसकी प्रक्रिया में तुलसी राम का विश्वास है। जब तक ज्ञान सभी तक नहीं पहुँचता, तब तक हम सभ्य नहीं हैं। ज्ञान से बहुतों को वंचित करके हमने भारत को ज्ञान से वंचित कर दिया। किस तरह तुलसी राम के ज्ञान-प्राप्ति में अज्ञान बाधक बनता है, इसी का जीवंत दस्तावेज़ है 'मुर्दहिया'। कितने अज्ञानी थे हमारे पूर्वज, जिन्होंने प्रसारित की जानेवाली चीज़ पर पाबंदी लग दी थी। ज्ञान-प्राप्ति में लगे शम्बूक को दण्डित किया था। [9]

अक्सर हम बाहर (रूप) को ही सच मान लेते हैं, जबकि जीव तो भीतर होता है। नारियल का फल बाहर से जैसा होता है, उससे एकदम अलग भीतर से। उसका मूल (मुलायम) रुक्ष रूप के भीतर है। हमें रूप से ज़ियादा मूल की ज़रूरत होती है। उसके रूप के रुक्ष होने का कारण बाहरी वातावरण है। उस मूल ने बाहरी वातावरण से संघर्ष करते हुए ख़ुद को संकोचा नहीं, बल्कि गहना और विस्तृत किया। संघर्ष के कारण उसका बाहरी आवरण जितना रुक्ष और कठोर हुआ उसके भीतर का जल उतना ही सुरक्षित और गतिशील रहा। उसकी जिजीविषा ने ही उसके रूप को रुक्ष और कठोर बनाया है। वृक्ष से अलगने पर अन्य फलों की तरह वह कुछ ही दिनों में सड़ (मर) नहीं जाता, बल्कि जीवित रहता है। तुलसी राम की 'मुर्दहिया' ऐसी ही रचना है। 'मुर्दहिया' शब्द फ़ारसी के मुर्दः और भोजपुरी के इया प्रत्यय के मेल से बना है। भोजपुरी में खुरपी, फावड़ा, चाकू आदि में धार न होने पर वह मुरदार का विशेषण पाती है। इस तरह मुर्दहिया नाम का मान हुआ, जिसमें धार (जीवन) न हो। जहाँ मरे हुए लोग रहते हों। मगर 'मुर्दहिया' के भीतर तो जीवन ही जीवन है। अत्यंत संघर्षरत गतिशील जीवन। देखने की बात यह है कि इसमें मनुष्य ही नहीं, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-तालाब; सभी जीवन की गतिमयता से ओत-प्रोत हैं। इस जटिल और गतिशील प्रवाह के अंतर्गत उत्पन्न एक दलित अबोध बच्चे का इस प्रवाह को ही अपने अंतर्गत कर लेने का संघर्ष है। लघु की संतान है लाघव, जो अत्यंत प्रेरक और सुन्दर है। हर लघु अपने लाघव द्वारा ही दीर्घ बनता है। किसी के अंतर्गत रहने वाला जब उस किसी को अपने अंतर्गत कर लेता है, तब उस किसी से दीर्घ हो जाता है। दीर्घ होना ही बड़ा होना है। बच्चे का बड़ा होना उसके बड़प्पन से जाना जाता है। ऊपर नारियल का ज़िक्र आया है। उसका मूल भीतर है। वह भीतर से बाहर की ओर विस्तरता है। 'मुर्दहिया' का दलित अबोध बच्चा भी भीतर से बाहर को विस्तरते हुए अपने परिवेश को ख़ुद के अंतर्गत कर लेता है, तब ही तो उसे साफ़-साफ़ देख पाता है। तल की चीज़ को साफ़-साफ़ देखने के लिए पानी के भीतर की हलचल को शांत करना पड़ता है, जो आसान काम नहीं। तुलसी राम अपने अर्जे परिवेश को त्रासक रूप में प्रकट न करके सहचार के रूप में प्रकट करते हैं। उन्होंने जीवन से जो कुछ अर्जित किया, उसे अपने तल में सँजो लिया। रचने के पहले उसको आलोचा। मतलब कि साफ़ किया। उसके बाद सिरजा। इसीलिए 'मुर्दहिया' उस प्रेरक के रूप में हमारे तल में उतरती है, [10] जिससे कि हमारा भीतर तल तक उद्वेलित हो उठता है। जिस तरह दूध में दही (खट्टा) का कुछ अंश पड़ने पर पूरा दूध उद्वेलित होकर दही में रूपांतरित हो जाता है, उसी तरह 'मुर्दहिया' हमारे रूप-गुण, दोनों में परिवर्तन ला देती है। इसीलिए इस कृति की संरचना में उतरना ज़रूरी हो जाता है। ऐसा करने से ख़ुद का भी रचनाकार में रूपांतरण की गुंजाइश बढ़ जाती है।

हर व्यक्ति को अपने समय को अनुसरते-अनुसारते वर्तन करना पड़ता है। इसी प्रक्रिया में वह अपने और अपने समय को नवसारता भी है। मुझे सुखद आश्चर्य होता है कि दर्शन जैसे शुष्क क्षेत्र में रमनेवाला व्यक्ति साहित्य जैसे रसिक क्षेत्र में कैसे आ गया! शुष्क क्षेत्र में बबूल ही उगते हैं, केले और पपीते नहीं। 'मुर्दहिया' का रूप बबूल है, मगर भीतर केले और पपीते। जिस तरह किसान गन्ने के खेत को चारों ओर से काँटों के बाड़ से सुरक्षित करता है, उसी तरह मानो 'मुर्दहिया' नामक बाड़ से तुलसी राम ने इसके भीतर के संघर्ष-रस को सुरक्षित कर दिया है, क्योंकि यह उपभोक्तावाद है। रस के चाहक सभी (सभ्इइ, सभ्इअ उ सभ्य) हैं, रस के सर्जक बहुत कम (असभ्य)। इस तथाकथित रसिक क्षेत्र के लिए तो वे नौसिखुवे हैं। उन्हें डर है कि कहीं उनके रस को चोर-उचक्के न लूट ले जाएँ, शायद इसीलिए उन्होंने 'मुर्दहिया' नामक बबूल से सुरक्षित किया है। जिस जीवन को अन्य दलित लेखकों ने प्रकाशित किया, उसी जीवन को तुलसी राम ने अधिक गहरे और परिष्कृत रूप में प्रकाशित किया है। ध्यातव्य है कि अधिकतर दलित आत्मकथाएँ युवा लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं, पोढ़ों द्वारा नहीं। शायद इसी कारण उनमें आक्रोश ज़ियादा है। गौरतलब यह भी है कि वे जिस जीवन से बाहर निकल आये थे, उसी के प्रति आक्रोश प्रकट कर रहे थे। भूतकालीन जीवन पर आक्रोश प्रकट करने से वर्तमान को नहीं बदला जा सकता। अतीत के प्रति प्रकट आक्रोश वर्तमान के प्रति आगाह ज़रूर करता है, मगर ठोस परिवर्तन लाने में सहायक नहीं होता। ठोस परिवर्तन तो अतीत के मूल में चलने

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

वाली प्रक्रियाओं को आत्मसात करने से होता है। इस तरह जीवन के मूल (गहराई) में उतरना ज़रूरी है। गहरे उतरने में समय और श्रम, दोनों लगते हैं। ये दोनों आक्रोश को संतुलित करते हैं।[11]

अधिकतर दलित आत्मकथाओं में उस जीवन से जूझने की प्रक्रिया कम और ख़ुद के दुख के विरुद्ध आक्रोश ज़ियादा है। उस कठिन जीवन से उबरते ही उन लेखकों ने उन स्थूल व्यक्तिओं और स्थितियों पर ही अपना गुस्सा उतारा, उन प्रक्रियाओं को गहना कम, जिसे स्वाभाविक तो कह जा सकता है, मगर रचनात्मक नहीं। तुलसी राम अपनी स्वाभाविकता पर अंकुश लगाकर गहन रचनात्मकता को प्रश्रय देते हैं। वे उन व्यक्तियों और स्थितियों को गहरे देखते-परखते हैं। मतलब कि पहले दर्शते हैं उसके बाद रचते। अन्य दलित लेखकों की तरह वे भोक्ता से रचना की तरफ़ अग्रसरित न होकर दर्शन से रचना की तरफ़ अग्रसरित हुए हैं। भोग के समय तो हम सभी ऐक्टर होते हैं। भवते-भावते हैं। इसीलिए अपने क्रियारूप की गुणवत्ता और प्रभाव को नहीं जान पाते। क्रियारूप की गुणवत्ता और प्रभाव को तो दर्शक ही जान पाता है। ख़ुद के स्पष्ट दर्शन के लिए ख़ुद से उचित दूरी बनानी पड़ती है। भाव से दूर जाना पड़ता है। भाव ही तो रस है। इसीलिए तुलसी राम भाव (रस) से दूर दर्शन (अभाव, शुष्क) में गये। जहाँ से उन्होंने अपने अतीत को साफ़-साफ़, मतलब कि तल तक देखा। अपने दलित समाज और अन्य समाजों के क्रिया-कलापों को तल की गहराई तक देखा। जिससे उनकी व्यक्तिगत पीड़ा का स्वरूप विस्तर गया। व्यक्तिगत पीड़ा का शमन तो समाज पर आक्रोश व्यक्त करके हो सकता है, परंतु समाजगत पीड़ा का शमन हो, तो कैसे! तुलसी राम द्वारा समाजगत पीड़ा के शमन के उपचार की कोशिश का नाम ही 'मुर्दहिया' है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तुलसी राम के समाजगत तुलसी राम में रूपांतरण का नाम ही 'मुर्दहिया' है। ऐसे में तुलसी राम आक्रोश प्रकट करे, तो किस पर! तत्कालीन तुलसी राम का आक्रोश तत्काल में प्रकट भी हुआ होगा और नहीं भी। हम जो-जो, जैसे-जैसे, जब-जब करते हैं; अगर उन्हें ज्यों का त्यों दर्ज़ दें, तो वह किसी को भी प्रभावित नहीं करेगा। रचना भोक्ता और द्रष्टा का गुणन होती है, न कि भोक्ता का वर्ग अथवा द्रष्टा का वर्ग। इससे तो महज उसका आकार (क्षेत्रफल, वर्ग) बढ़ता है, संघनत्व नहीं। साहित्य न वर्गीय होता है, न सघन, वह तो संघन होता है। संघन के तीनों आयाम समान होते हैं। अय-अय (आय) तो सभी करते हैं, मगर व्ययते कम ही। अये अथवा आये को किस तरह व्यया जाये, कि समय हो जाये, कम ही लोग जानते हैं। तुलसी राम इसे जानते हैं। उन्होंने समय को भोगन और दर्शन के बिल्कुल मध्य और बराबर रखा है। इन्हीं तीनों का गुणफल है 'मुर्दहिया' । यह सघन नहीं, संघन है। पहले यह आत्म का परिष्कार करती है, फिर समाज का। अगर भारतीय समाज के तल में उतरना हो, तो 'मुर्दहिया' को न केवल पढ़ना चाहिए, बल्कि रुक-रुक कर पढ़ना चाहिए। तल के गहन मंथन से प्राप्त ज्ञान हमेशा हाथ-कंगन की तरह होता है।[12]

सर्जक पहले अपने भीतर अर्जित कच्चे माल का परिष्कार करता है। बाहर से अच्छा-बुरा जो भी मिलता है, वह हमारे भीतर सुरक्षित हो जाता है। बाहर प्रकट करने के लिए उसका परिष्कार किया जाना ज़रूरी है। परिष्कार लोचना करने से होता है, जिसे दर्शना भी कहते हैं। लोचना-दर्शना में समय लगता है। तुलसी राम पहले अपने घर को दर्शते हैं, जिसमें एक दादी है और एक चाचा भी। दादी स्नेहिल है, जबकि चाचा कठोर। चेचक से आँख चली जाने पर सबसे पहले चाचा ही उसे अपशकुन मानता है। जगह-जगह उसका तिरस्कार और अपमान करता है। अन्य समाज के लोग तो बाद में करते हैं। इसके मूल में अज्ञान है। अज्ञान किस प्रकार अपने-पराये के भेद को भी मिटा देता है, देखना हो तो 'मुर्दहिया' पढ़ना चाहिए। गाँव में तुलसी राम के अलावा एक सवर्ण व्यक्ति और एक महिला भी है, जो पूरे गाँव को अपशकुन लगती है। "मेरे घर के पास एक आम के पेड़ में खूब बौर आए थे। अचानक जंगू पांडे आकर आम के बौरों को देखने लगे क्योंकि बौर बहुत अच्छे लग रहे थे। मेरे घर वालों ने कहना शुरू कर दिया कि जंगू पांडे की नजर लग गई। अब फल नहीं आएंगे। जबकि बाद में खूब फल आए। इसी तरह गांव की एक अन्य बुढ़िया ब्राह्मणी थी, जिसका नाम किसी को मालूम नहीं था। वह सिर्फ 'पंडिताइन' के रूप में जानी जाती थी। पंडिताइन निर्वंश विधवा थी। उन्हें भी लोग देखना पसंद नहीं करते थे।" "वैसे सच्चाई तो यह थी कि हमारे गांव में निर्वंश जंगू पांडे, विधवा पंडिताइन, पोखरे वाला उल्लू, खो-खो करने वाली मरखउकी चिड़िया और मैं स्वयं, हम पांचों असली अपशकुन थे जिन्हें देख-सुनकर लोगों की रूह कांप जाती थी।" (49) इसमें जाति-पाँति का कोई भेद नहीं है। अधिकतर दलित आत्मकथाएँ सवर्ण और अवर्ण पर आधारित हैं, जिसके कारण अवर्ण की भूल-ग़लतियाँ लेखकों को दिखलाई नहीं देतीं, या देखने की कोशिश ही नहीं की जाती। तुलसी राम इसके भीतर उतरते हैं, तो अभेद पाते हैं। उनके हिसाब से यह भेद अज्ञान की उपज है, जिसे ज्ञान के द्वारा ही ख़त्म किया जा सकता है। असंख्य विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य अपने मूल में उतरता है। मूल ही वह ऊर्जा मुहैया कराता है, जिससे परिस्थितियों का सामना किया जाता है। तुलसी राम का मूल दादी है, इतनी गहरी कि आदिम दादी में परिवर्तित हो जाती है। इस दादी को तुलसी राम ने इतना गहा है कि हर वक़्त जैसे अपने साथ लिए हों। दादा से प्राप्त सिक्कों को दादी तुलसी राम से ही गिनवाती है, मगर देती एक भी नहीं। जिस भाव से दादी उसे सुरक्षित रखती है, तुलसी लाख कंगाली में भी उससे माँगता नहीं, यह जानता हुए कि दादी उसे दे देगी। इसके बाद स्नेहिल माँ है, जो इसके दुख में अपना पेट काटती है। अज्ञानी पिता की पढ़ाने की रुचि भी उत्साहित करती है। पिता भोला-भाला पुराने ख़यालों वाला इनसान है, परंतु यही भोला-भाला पिता माँ के चरित्र पर शक करके मारता-पीटता है, तो इसके मूल में उसका पुरुष होना प्रकट होता है। यह विचार उसे उच्च समाज से मिला है। तुलसी राम जैसे दिखला रहे हों कि अज्ञान दलित को भी दलक बना देता है। इसी कारण वह दूसरे समाजों से अकसर उनकी बुराइयाँ ही ग्रहण करता है, अच्छाइयाँ बहुत कम। [13]

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

सवर्ण और अवर्ण का मूल तो अज्ञान है ही, उसका शासक भी अज्ञान है। अज्ञान ने ही एक-दूसरे पर निर्भर लोगों को बाँट दिया है। जीवन का यथार्थ इसे भुलाकर साथ रहने को मजबूर करता है। ज्ञान-अज्ञान में चोली-दामन का साथ है। चाहे स्कूल का हेड-मास्टर परशुराम सिंह हो, चाहे स्कूल के अबोध बच्चे। परशुराम सिंह व्यक्ति होने के साथ एक अध्यापक भी है। मतलब कि अज्ञान और ज्ञान से संचालित व्यक्ति। "हेडमास्टर साहब प्राय: सवर्ण छात्रों से कहते: ठीक से सवाल पढ़िके ना अइबा त येही चमरै से रोज पिटवाइब।" (59) उनके इस कथन से तत्कालीन तुलसी राम पर जो प्रभाव पड़ता था, उसे भी देख लीजिये, "यह सुनकर मैं बहुत खुश होता और इससे मुझे गहन अध्ययन की बहुत प्रेरणा मिलती। पढ़ाई के दृष्टिकोण से हेडमास्टर परशुराम सिंह मेरे सबसे बड़े प्रेरणास्रोत थे।" (59) अगर हेडमास्टर के कथन की व्याख्या करें, तो उनकी संवेदना सवर्ण छात्रों के प्रति मिलेगी। वे एक छात्र से उन्हें नहीं पिटवाते थे, बल्कि एक 'चमार' से पिटवाते थे। मतलब कि चमार से पिटने का दर्द उस बच्चे के अंतस्तल को बेधता, जिससे वे जी-जान से अपना मन पढ़ाई में लगाते। परंतु अबोध तुलसी राम अगर उपर्युक्त अर्थ लेता, तो शायद आज का ज्ञानी तुलसी राम नहीं बन पाता। "वे हमेशा कक्षा में मेरी प्रशंसा करते और जब ज्यादा खुश होते तो कहते : ई चमरा एक दिन हमरे स्कूले क इज्जत बढ़ाई।" यह कथन अत्यंत जटिल भावबोध से निर्मित है, जिसमें टीस के उपरांत ख़ुशी भी है। ऐसे जटिल भावबोध ही किसी रचना को दीर्घजीवी बनाते हैं। अब अबोध बच्चों का हाल देखें। "मैं हमेशा उत्तर सबसे पहले बता देता था। इसके बाद अध्यापक मुझे आदेश देते कि जिन छात्रों ने उत्तर नहीं दिया है, उन्हें मैं एक-एक झापड़ या मुक्का मारूँ। मैं अक्सर रोज ही इस प्रक्रिया में अनेक छात्रों की पिटाई कर देता, जिसके कारण छात्र, खास करके सवर्ण जातियों के बच्चे, मुझसे बहुत घृणा करने लगे थे, जिसका प्रमुख कारण था मेरा अछूत होना तथा ऊपर से चेचक वाला चेहरा तथा एक आंख का खराब होना। ऐसे छात्र लेजर के दौरान मुझे इंगित करके बाजार में सामान बेचन वालों की बोली की नकल पर कहते: ले अमरूद ए काना ए काना। यानी एक आना का बिगड़ा हुआ रूप 'ए काना' ।...किंतु मैंने स्कूल में इससे निपटने का एक उपाय ढूंढ लिया था। जो छात्र वैसा कह कर मुझे चिढ़ाते थे, उन्हें मेंटल के दौरान अध्यापक द्वारा झापड़ मारे जाने के लिए कहने पर मैं बहुत जोर से मारता था जिससे वे तिलमिलाकर रह जाते थे किंतु वे अध्यापक के डर से कुछ कर नहीं पाते थे। बाद में कई छात्र मेंटल वाला घंटा आने से पहले मुझसे गिड़गिड़ाते हुए कहते: आज जोर से मत मरिहा।" यह लघु के लाघव का परिणाम है, जो दीर्घों को भी हँसाने में समर्थ है। "एक आना का बिगड़ा हुआ रूप 'ए काना' ।" पर क्या आपने गौर किया। 'अगड़ा हुआ रूप' नहीं, 'बिगड़ा हुआ रूप' । भोजपुरी में 'व' ध्वनि 'ब' में रूपांतरित हो जाती है। इस तरह 'ए काना' तुलसी राम के भीतर विशेष रूप से गड़ गया। सवर्ण बच्चों ने यह विशेष तरीक़ा क्यों अपनाया? इसलिए कि उन्हें एक ओर तो तुसली राम को चोट पहुँचानी थी, तो दूसरी ओर अपनी रक्षा भी करनी थी। इस आसान तरीक़े ने उन बच्चों के तत्कालीन दुख को कम करने की बजाय और बढ़ा दिया, जबकि तुलसी राम का दुख कम हुआ। अगर वे बच्चे कठिन रास्ता चुनते और अगर तुलसी राम को झापड़ न भी मार पाते, तो उससे मार खाने से तो बच ही जाते। आज वे न जाने किन-किन की झापड़ खाते, 'जोर से मत मरिहा' कहते-रिरियाते जीवन गुजार रहे होंगे। यहाँ एक चीज़ गौर करने लायक है कि तथाकथित विकसित आज से हमारा पिछड़ा कल कितना सहिष्णु था। एक क्षत्रिय अध्यापक दलित छात्र से सवर्ण छात्रों को पिटवाता है, परंतु कोई भी अभिभावक इसकी शिकायत नहीं करता, जबकि आज तो बात-बात में शिकायत पहुँच जाती है। इसी क्रम में हमारी शिक्षा व्यवस्था पर व्यंग्य भी दिखता है। अभाव ही सृजन की जननी है। तुलसी राम ने इसे गहा है। थपुआ पर लिखना, जानवरों को चराते समय ज़मीन पर ही सवाल हल करना, इत्यादि-इत्यादि अभाव के ही प्रमाण हैं। आज न जाने कितने कागज़-कलम-पेंसिल बरबाद हो रहे हैं, परंतु गहन शिक्षा कहीं दिख ही नहीं रही। स्कूल-कॉलेज, मशीन तैयार कर रहे हैं। शिक्षा मनुष्य के रूप में जीवन जीने का सलीका सिखाती है। आज की शिक्षा-पद्धति का इससे दूर-दूर का भी नाता नहीं, वह तो मनुष्य को संसाधन में तब्दील कर रही है। संसाधन की अपनी कोई इच्छा-सोच नहीं होती। वह तो उपयोगकर्ता की इच्छा-सोच के अनुसार वर्तती है। [14]

उपभोक्तावाद मनुष्य और मनुष्यता से अधिक संसाधन पर ज़ोर देता है, जबकि 'मुर्दहिया' इस पर ज़ोर देती है कि विकास संसाधनों के आधिक्य का मोहताज नहीं होता। संसाधनों का आधिक्य तो साधक को साध्य से ही दूर कर देता है। हम संसाधनों का अधिक उपभोग करने के कारण निरंतर क्षरित हो रहे हैं। तुलसी राम ने ख़ुद को विशेष नहीं, सामान्य दलित के रूप में पेश किया है, इसीलिए आत्ममोह और आत्मप्रशंसा से बचने में सफल हुए हैं, अन्यथा आत्मकथाएँ ख़ुद को विशेष करने के प्रयास में अपने संघर्ष को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करती हैं, जिससे रचना का प्रभाव घनीभूत न होकर बिखर जाता है। व्यक्ति के रूप में हम सभी उपभोक्तावाद से बुरी तरह परेशान हैं। अपने बच्चों की पढ़ाई के लिए बेतरह साधनों को इकट्ठा करने में ही खप रहे हैं। बच्चों को सब कुछ बाज़ार ही उपलब्ध करा रहा है, उसे तो कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं। ऐसे में उनमें कुछ करने-बनने की साध पैदा हो तो कैसे? शिक्षा-क्षेत्र तुलसी राम के जीवन से बहुत कुछ सीख सकता है, जिसका जीवन गतिविधियों से भरपूर है। पढ़ने के लिए उसे समय की किल्लत है, फिर भी वह उसे चुरा ही लेता है। वह इस चुराए हुए समय का सदुपयोग प्रेमियों की तरह करता है। ऐसा इसलिए होता है कि वह अपने परिवेश और व्यवस्था की शिकायत न करके उसे बदलने की कोशिश करता है, जिससे ख़ुद भी बदलता जाता है। इस तरह यह पूरी आत्मकथा एक गतिशील द्वंद्व बन जाती है, अपने अतीत की ख़ामी-ख़ूबियों को द्वंद्वती-गुणती-संयोजती। इसीलिए अत्यंत गतिशील और संघन है। शिक्षा कहीं भी किसी भी समय और स्थिति में अर्जित की जा सकती है। नटिनिया और तुलसी का पढ़ना-पढ़ाना क़ाबिले ग़ौर है, "मैंने शुरू में उसे चिकनी जमीन पर खपड़े से लिखकर कुछ अक्षर सिखाने की कोशिश की, किंतु उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता था। एक दिन वह एक आँवाँ से निकला हुआ नया थपुआ लेकर

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

आई।…वह कहने लगी कि मैं दुधिया से थपुआ पर लिखकर पढ़ाऊँ। मैं वैसा ही करने लगा।" शहरी लोग इसे पढ़ाई का मजाक कहेंगे और नटिनिया की पढ़ाई के हश्र से इसकी पुष्टि भी कर देंगे। कहेंगे कि देखा न ऐसी पढ़ाई का नतीजा। सवाल नतीजे का नहीं, उस ललक का है, जो पढ़ाई के प्रति दिखती है। साधनहीन ग्रामीणों के लिए जमीन ही ओढ़ना-बिछौना भी है और स्लेट-पटरी भी। वह उसी पर लिखता-मिटाता आगे बढ़ता जाता है। विषम परिस्थितियाँ हुनरमंद बनाती हैं। भैंस चराता तुलसी साधन और समय के अभाव में जिस तरह जमीन पर सवाल हल करता था, कुछ उसी तरह बाबा नागार्जुन भी लिफ़ाफों और बस की टिकटों पर कविता लिखा करते थे। ये प्रसंग साधन-हीनता का रोना रोनेवालों के गाल पर चपत हैं। यहाँ तुलसी का जमीन पर सवाल हल करना, जमीनी सवाल हल करने का प्रतीक भी बन जाता है। परंतु हम लोग तो जमीनी सवाल को कागज पर हल करते हैं। क्या यह क़रारा व्यंग्य नहीं है। हम सभी जानते हैं कि हर क्रिया दो विरुद्धों का सामंजस्य होती है, इसलिए स्थिर होकर देखने पर उसका दो विरोधी प्रभाव पड़ता है। मसलन, कमज़ोर को मदद की जानी चाहिए। मदद क्यों की जानी चाहिए? इसलिए कि वह भी मजबूत बन सके। यह इसका मर्म है, मगर अगर मदद के बावजूद भी वह मजबूत नहीं बना, जिस तरह नटिनिया लिखना सिखाने के बाद भी लिखने में समर्थ नहीं हुई, तो क्या सिखाने वाले को उसे सिखाते ही रहना चाहिए! स्पष्ट है कि नहीं। जीना किसी न किसी देश-काल में होता है। इसलिए अपने देश-काल में एक पैर जमाने के उपरांत ही दूसरा पैर उससे बाहर किया जा सकता है। मतलब कि कोई भी इनसान अपने देश-काल से एक क़दम ही आगे बढ़ सकता है, इससे अधिक नहीं। ऊपर जमीन और थपुए पर लिखने का जो जिक्र हुआ है उसी से मिलता एक विदेशी प्रसंग है, जिसे आप भी देखे, "मलालई किसी मध्ययुगीन अफगानी राजा की बेटी थी, जिसका लगाव उसके ही एक गुलाम से हो गया था। घबराकर राजा ने मलालई को जेल में बंद कर दिया। जेल की कोठरी में उसके पास न कागज था न कलम। अत: वह उंगलियों को घायल कर निकलते हुए खून से दीवारों पर लंड़इयाँ लिखने लगी। ये रचनाएँ बाद में चलकर पश्तो साहित्य की अमूल्य निधि सिद्ध हुईं।" [15]

इस तरह यह स्पष्ट है कि साधन-हीनता ही हुनर की जननी है। आज की शिक्षा-पद्धति ने तो जैसे लघु और लाघव को देश-निकाला दे दिया है। तुलसी राम मनुष्य के लाघव की ओर ध्यान खींचते हैं, तभी तो इसे विदेशी प्रसंग के द्वारा पुष्ट करते हैं। उन्हें अपनी साधन-हीनता पर कोई दुख नहीं, दुख है तो हमारे सामाजिक ताने-बाने से, जिसमें कोई अछूत है तो कोई सवर्ण। देखने की बात यह है कि वे इस सामाजिक व्यवस्था से गहन प्रेम करते हैं, परंतु उसकी बुराइयों को गले नहीं लगाते। वे जिस सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं, उसके प्रति उनमें गहन ममत्व है। वे उसके प्रति श्रद्धानत भी हैं और उसकी बुराइयों को दूर करने भी लगे हैं। हम जिसे जितना चाहते हैं, उसके दुर्गुणों को उतना ही दूर करना चाहते हैं। 'मुर्दहिया' में भिन्न-भिन्न समाजों की भरमार है, बावजूद इसके वह एक समाज की कथा होने का एहसास कराती है। ऐसा इसलिए हुआ है कि वे एक-दूसरे से अलग-थलग न होकर एक-दूसरे में आवन-जावन करते हैं। मतलब कि तुलसी राम ने भिन्न-भिन्न समाजों को ऐसे अभिन्न किया है कि 'मुर्दहिया' एक संकुल नज़र आती है। ऐसा समाज जिसमें भिन्नताओं की भरमार है बावजूद इसके वे अभिन्न हैं। मुझे अचरज होता है कि तुलसी राम ने किस तरह भिन्न-भिन्न समाजों को कई भिन्नों में तब्दील किया होगा। फिर उन्हें अपनी संवेदना से गुणा होगा। इतनी बारीक़ भिन्नता तो कम ही देखने को मिलती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि विविध भिन्नों का विविध प्रकार से अभिन्न रूप ही 'मुर्दहिया' है, जिससे विविध और विभिन्न स्वर निकलते हैं, जो मर्म को छूने के साथ गतिविधि करने को प्रेरित भी करते हैं।

विचार-विमर्श

हमारे यहाँ 'अपने आप' के प्रकाशन को ज्यादा महत्व देने की परम्परा नहीं रही है। इसीलिए हिन्दी भाषा और साहित्य में 'आत्मकथा' की विधा देर आई तथा वह थोडी उपेक्षित भी रही है। पर हम यह भी जानते हैं कि परम्पराएँ टूटती भी हैं और आत्मकथाओं के प्रसंगों में भी हम परम्परा को टूटते हुए पाते हैं। इधर विगत बीस-इक्कीस वर्षों में आत्म-कथाएँ बहुत ज्यादा लिखी गईं हैं और इनमें से भी अधिकतर स्त्रियों और दलित लेखकों द्वारा लिखी गई हैं यानी आत्मकथा कहीं न कहीं हाशिए के लेखन का सशक्त माध्यम बनी है। और सबसे बडी बात यह है कि इनमें से कुछेक आत्म-कथाएँ भारत की सामाजिक संरचना को समझने में काफी मददगार साबित हुई हैं।

वैसे देखा जाए तो हिन्दी में दलित-विमर्श की ठोस शुरुआत आत्मकथाओं से ही होती है। इसका कारण यह है कि आत्मकथा तमाम साहित्यिक विधाओं में एक ऐसी विधा है जिसमें आप अपने और अपने समाज दोनों की गाँठों को आसानी से खोल सकते हैं या यूँ कहा जाए कि आप अपने आईने में अपने समाज को भी आईना दिखा सकते हैं। पर आत्मकथा लिखने के अपने खतरे हैं क्योंकि यह अपने जीवन को पुनः जीने वाली विधा है। अपने आपको पुनः जीना आसान नहीं होता। अपनी आपबीती के प्रसंग में समय और समाज की गाँठों को खोलना कदम-कदम पर निष्पक्षता और ईमानदारी की माँग करता है। आत्मकथा लिखने के तमाम खतरों को जानते, समझते और झेलते हुए इधर हाल के वर्षों में अनेक दलित चिंतकों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं जिनमें प्रो. तुलसी राम की आत्मकथा बहुत चर्चित रही है तथा यह दो भागों-मुर्दहिया और मणिकर्णिका के रूप में पाठकों के सामने आई है। इस आत्मकथा ने प्रकाशित होते ही पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इसका कारण भी है और वह यह है कि रोचक आख्यान की शैली में यह आत्मकथा अनभै के साथ-साथ अपना साबूत सच भी बयाँ करती है।[16]

'मुर्दहिया' सन् २०१० तथा 'मणिकर्णिका' सन् २०१४ में आई और जैसा कि प्रो. तुलसीराम ने 'मणिकर्णिका' की भूमिका में कहा है कि आत्मकथा किसी भी व्यक्ति की अंतिम रचना होनी चाहिए पर स्वयं वे इस धारणा को तोडते हैं। उनकी यह आत्मकथा उनकी अंतिम

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

रचना नहीं है। बहरहाल इस आत्मकथा की महत्ता कुछ और कारणों से भी है। दलित आत्मकथा-लेखन के क्षेत्र में चली आ रही परिपाटी को एक हद तक तोडते हुए यह आत्मकथा न केवल दलित आत्मकथाओं को एक नया पैटर्न देती है बल्कि हिन्दी में आत्मकथा लिखने का एक नया पैराडाइम भी विकसित करती है। पहली बार दलित आत्मकथा की कोई छाया दूर-दर तक देखने को नहीं मिलती है। इस आत्मकथा में आत्म कथाकार ने ऐसी तटस्थता बरती है कि वह अपने आप में एक मानक के तौर पर पहचानी जाने लगी है। इस आत्मकथा में केवल जीवन संघर्ष की आग नहीं है बल्कि इतिहास और दर्शन की लपटें भी विद्यमान हैं। यानी इस आत्मकथा में जीवनी, इतिहास और दर्शन की त्रिधाराएँ बहती हैं और पाठक मंत्र-मुग्ध-सा इसमें डुबकी लगाए हुए चलता है। आख्यान के साथ इतिहास और दर्शन का बेहतर तालमेल देखना है तो प्रो. तुलसीराम की आत्मकथा से बेहतर और कोई विकल्प नहीं दिखता। इस आत्मकथा की सबसे बडी खासियत यह है कि इसमें रोचकता है। रोचक प्रसंगों की बडी महकती हुई टोकरियाँ हैं। इन रोचक प्रसंगों की वजह से पाठक इस आत्मकथा में आरंभ से अंत तक बँधा रहता है।

प्रो. तुलसीराम की ‘मुर्दहिया’ और ‘मणिकमिर्णका’ भय से निर्भयता की ओर बढने की भी कथा है। इसमें एक धर्म भीरू बालक की धर्मांधता से टकराते हुए ईश्वर की सत्ता को चुनौती देते हुए माक्र्सवादी बनने की कथा है। यह एक साधारण से बालक की असाधारण उपलब्धियों को हासिल करने की यात्रा है। अपने साहस और दृढ इच्छा शक्ति के बल पर यह दलित बालक अपनी नियति बदलता है और तमाम प्रकार की चुनौतियों को स्वीकारता हुआ वह अपनी एक अलग पहचान बनाता है। यह पहचान जाति की मोहता*ा नहीं है बल्कि यह पहचान एक विद्वान की है, लेखक की है, माक्र्सवादी चिंतक की है। आ*ामगढ के धरमपुर गाँव से निकलकर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सेंटर फॉर रशियन एंड सेंट्रल एशियन स्टडीज, स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज का अध्यक्ष बनना कोई साधारण बात नहीं है। इस यात्रा में संघर्ष के कई पडाव हैं, दलित होने का दंश, भेदभाव झेलने की पीडा है पर कहीं भी अपने आप को महिमा-मंडित करने की मंशा आत्मकथाकार की तरफ से नहीं दिखलाई पडती है। भारतीय समाज की जटिल बुनावट से तार-तार होने की प्रक्रिया में लेखक अंततः अपने व्यक्तित्व का व्यक्तित्वंतरण करने की प्रक्रिया में सफल होता है और यही उसकी सबसे बडी उपलब्धि है।

प्रो. तुलसीराम की इस आत्म-कथ्य की यात्रा ‘मुर्दहिया’ से आरम्भ होती है। ‘मुर्दहिया’ धरमपुर गाँव का शमशान-स्थल है जहाँ मृत्यु के साथ अंधविश्वास और भूत-प्रेत की गहरी छायाएँ हैं परंतु इसे लेखक बहुद्देशीय कर्मस्थली मानता है क्योंकि चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते मुर्दहिया को लाँघकर ही जाते हैं। जीवन से लेकर मृत्यु तक की सारी घटनाओं का केंद्र बिंदु यह मुर्दहिया ही बनती है। चाहे मनुष्य हो या पशु, सबकी अंतिम यात्रा का गवाह इस मुर्दहिया को ही बनाया जाता है। लेखक यह मानता है कि मुर्दहिया सही मायने में दलित बस्ती की जिन्दगी थी और इस जिंदगी में गैर-दलितों की जिन्दगियों को झाँकियाँ भी विद्यमान है। इसी जिंदगी को प्रो. तुलसीराम अपने आत्मकथा के जरिए ‘मुर्दहिया’ के एक व्यापक कैनवास पर उकेरते हैं। इस जिंदगी की अपनी तासीर है और इस तासीर मे ही जिंदगी है।[17]

कुलदीप कुमार ‘द हिंदू’ में छपे अपने एक आलेख में कहते हैं पूर्वी उत्तर प्रदेश क आ*ामगढ जिले का गाँव ‘धरमपुर’ अपने पूरी सामाजिक सरंचना के साथ इस आत्मकथा के पहले भाग ‘मुर्दहिया’ में उपस्थित है और उसका इतना सटीक विश्ा*ेषण लेखक के द्वारा किया गया है कि वह आत्मकथा समाज शास्त्रीय अध्ययन का भी एक अहम् स्रोत बन जाती है जो अपने आपमें बडी बात है। ‘मुर्दहिया’ में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में पारिवारिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए लेखक अपने जीवन यात्रा की शुरुआत करता है। पारिवारिक पृष्ठभूमि से गुजरते हुए यह आभास होने लगता है कि इसमें जिस जीवन का वर्णन है वह हमारे लिए भले ही अभ्यस्त न हो पर वह एकदम नया भी नहीं है। कारण यह है कि उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे प्रदेशों में दलितों की यही जिंदगी थी और आज भी कहीं न कहीं इसके कुछ अवशेष बचे हुए हैं। यह दुनिया है भूमिहीन दलितों की, बंधुआ मजदूरों की जो बेगार खटने को ही अपनी नियति स्वीकार कर चुके हैं। यहां कदम-कदम पर अशिक्षा है, अंधविश्वास हैं, बीमारियाँ हैं, भूख है, अभाव है, आर्थिक पिछडापन है। एक तरह से ऐसा जीवन जिसे पशु भी जीने से इनकार कर दें। सामान्य मानवी गरिमा से विछिन्न।

‘मूर्खता हमारी जन्मजात विरासत थी’ -इस वाक्य से अपनी आत्मकथा आरम्भ करने वाले प्रो. तुलसीराम दरअसल इस समाज में सदियों से चली आ रही अशिक्षा, अंधविश्वास, अज्ञानता, मूढता और शोषण की असंख्य रूढियों की तरफ इशारा करते हैं। यह समाज भूमिहीन दलितों का समाज है। दादा-परदादा, पुरखे सब ऊँची जाति के जमींदारों के यहाँ बंधुआ मजदूर या हरवाहे थे। पिता भी बंधुआ हरवाहे यानी दलित खेत मजदूर हैं। यह हरवाही पुश्त-दर पुश्त चली आ रही थी। इसको धर्मांधता ने नियति के रूप में स्वीकार करना सिखा दिया था। और ऐसे परिवार में तुलसीराम जन्म लेते हैं। तीन साल की अवस्था में चेचक की बीमारी की वजह से उनकी एक आँख अपनी रोशनी हमेशा के लिए खो देती है। अंधविश्वासों की मोटी जंजीरों में जकडा हुआ गाँव उन्हें हमेशा के लिए अपशकुन की श्रेणी में ला खडा करता है। यह केवल दलित समाज की ही बात नहीं है बल्कि उस गाँव में ब्राह्मणों के अंदर भी ऐसे अंधविश्वास जड जमाए हुए थे। उस गाँव में बूढे ब्राह्मण जंगू पांडे को भी अपशकुन घोषित किए हुए था। परिवार में ही लेखक को काना-काना कहकर उपहास उडाने की रीति शुरू हुई जो लेखक के जीवन की पहली पीडा थी।दूसरा अध्याय स्कूली जीवन से संबंधित है। अशिक्षा और अंधविश्वास से जकडे परिवार में पढने की ललक लेकर तुलसीराम पैदा हुए। इस दलित बस्ती में कोई भी पढा-लिखा नहीं था। केवल ब्राह्मण पढे-लिखे थे और वे दलितों की चिट्ठियाँ पढना नहीं चाहते थे सो थक-हार कर तुलसीराम को पढने के लिए प्राइमरी स्कूल में उनके पिता द्वारा भेजा जाने लगा। प्रवेश करते ही विद्यालय में

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

विराजमान जातिगत भेदभाव, छुआछूत और भ्रष्टाचार से उनका सामना हुआ। 'चमरकिट' , 'चमरा ने कुँआ छू दिया, पसकराई' आदि से भीडते-टकराते अंततः प्राइमरी पाठशाला की पढाई उन्होंने पूरी की।इस अध्याय में बाल मनोविज्ञान की सुंदर झाँकी देखने को मिलती है। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की शिक्षा-व्यवस्था के हालातों का भी जायजा मिल जाता है।[18]

तीसरा अध्याय 'अकाल में अंधविश्वास' शीर्षक के अंतर्गत है। इस अध्याय में सन् १९५७ में पडे अकाल और उसके भीषण प्रभाव को लेकर समाजशास्त्रीय ढंग से चर्चा की गई है। इस अकाल के चलते पूरा गाँव भुखमरी के कगार पर पहुँच चुका था। विशेषकर दलित परिवारों की हालत बहुत दयनीय थी। बच्चों तक को फाकाकशी करनी पडती थी। बरसाती कडकी के दिनों में भूख मिटाने के लिए चूहों, मछलियों पर निर्भर रहना पडता था। और ऐसे समय में मुनाफाखोरों की बन आती थी। दलितों के पास कडाके की ठंड से बचने के लिए कोई र*ाई वगैरह नहीं होती थी। सारे दलित रात भर ठिठुर कर जागते थे। बच्चों को पुआल के अंदर सुलाया जाता था। लेखक अपने इस अनुभव को इन शब्दों के सहारे व्यक्त करता है कि भयंकर जाडा में पुआल ओढकर सोना मानो कफन ओढकर सोना था। इस अध्याय में गरीबी और भुखमरी के ऐसे पीडादायक चित्र हैं जो मस्तिष्क को सुन्न कर देते हैं। दरअसल भारत की गरीबी के चित्र अक्सर मन और मस्तिष्क को झिंझोड जाते हैं।चौथा अध्याय 'मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोक जीवन' नाम से है। इस अध्याय में लेखक अपनी जीवन गाथा के साथ-साथ अपने गाँव के प्राकृतिक वातावरण की भी बात करता है। इसमें गिद्धों की बात बडे पैमाने पर आती है। पर्यावरण को लेकर चिंता करती हुई आत्मकथा हिन्दी की शायद पहली आत्मकथा है जहाँ पर्यावरण विषयक मुद्दों को भी उठाया गया है। गिद्धों के अलावा लेखक की स्मृति में गाँव के पोखरें भी आते हैं, खेत भी आते हैं, पेड-पौधे भी आते हैं और गाँव का लोक-जीवन और ढेर सारे जीवंत चरित्र आते हैं जिससे यह आत्मकथा केवल एक व्यक्ति की कथा न रहकर पूरे अंचल की कथा बन जाती है। दरअसल स्मृतियों के सहारे लिखी जाने वाली आत्मकथाओं में बहुत सारी वे चीजें बची रहती हैं जिन्हें हम बचाना चाहते हैं।पाँचवाँ खंड 'भुतनिया नागिन' पर है। इसमें एक नट परिवार की कन्या 'ललती' जिसे गाँववाले नटिनिया कहते थे, उसकी कथा के साथ उसकी अँग्रेजी सीखने की ललक को दिखलाया गया है।

'चले बुद्ध की राह' अध्याय लेखक के भविष्य की उडान का आगा*ा करती है। दरिद्रता की धज्जियाँ उडाते हुए अब तुलसीराम को बुद्ध एक नई राह दिखाने लगे थे। बुद्ध का गृह-त्याग लेखक को भी गृह से मोह तोडने के लिए उकसाने लगा था। इसके पीछे बडा कारण था इंटर की पढाई। यह इच्छा इतनी बलवती हुई कि लेखक १५ वर्ष की अवस्था में घर से भाग चला। पीछे 'मुर्दहिया' छूट गई थी पर लेखक के अंतर्मन में, स्मृतियों में वह सदा टँगी रही। यह मुर्दहिया ही लेखक के जीवन का पाथेय बनी रही।सातवें अध्याय 'आ*ामगढ में फाकाकशी' शीर्षक में आ*ामगढ में लेखक द्वारा बिताए गये दिनों और अर्जित किए गये अनुभवों की मार्मिक व रोचक व्यंजना है। घर से भागकर आजमगढ के 'अंबेडकर छात्रावास' में लेखक पहुँचता है और पहली बार अंबेडकर के नाम से परिचिति पाता है। यहाँ पर डॉ. अंबेडकर के संघर्षों के परिमाणस्वरूप दलित छात्रों के लिए बनाए गये छात्र-निवासों की दुर्दशा और भ्रष्टाचार पर भी लेखक की निगाह जाती है। आ*ामगढ में फाकाकशी करते हुए लेखक अब बनारस का स्वप* देखने लगा था। बी.एच.यू. में शिक्षा पाने की अलख लेखक में जाग चुकी थी। सो देर-सबेर लेखक को अपनी मं*ाल की तरफ रवाना होना ही था। यह रवानगी एक बेहतर जिंदगी की तलाश के साथ-साथ सारी दुनिया को जानने और समझने के लिए बेहतर औजारों की खोज का स्वप* भी लिए हुए थी। यहाँ मुझे राहुल सांकृत्यायन याद आते हैं। उन्होंने कहा था कि जो जातियां अपने मूल जडों से उखडती हैं वे ही विकसित हो पाती हैं। यानी जहाँ रवानगी है, जहाँ दुनिया को जानने की ललक है, जहाँ जिंदगी के नए मायनों की तलाश की लगन है वहीं जिंदगी है, वहीं मंजिल है तथा वहीं सफलता है। जो आगे बढ गया वही जी गया और जो जी गया वह जीत गया। जिंदगी का फलसफा यही तो है। प्रो. तुलसीराम इसी फलसफे को अंगीकार कर चुके थे।लेखक की आत्मकथा आ*ामगढ के मुर्दहिया से गुजरते हुए बनारस की मणिकर्णिका के पास पहुँचती है। इस प्रसंग में नामवर सिंह अपने एक व्याख्यान म यह सवाल उठाते हैं कि प्रो. तुलसीराम की आत्मकथा के दोनों ही खंड मृत्यु से संबंधित हैं। दोनों खंडों के नाम के चयन में यह बात परिलक्षित भी होती है। वैसे इस आत्मकथा का मृत्यु से गहरा संबंध है पर मृत्यु की छाया से यह कहीं भी ग्रसित नहीं है बल्कि जीवन के जुझारू तेवरों से लबरे*ा है।लेखक के जीवन के दस सालों का लेखा-जोखा 'मणिकार्णिका' में उपलब्ध है। दरअसल यह एक व्यक्ति की गाथा नहीं है अपितु पूरा बनारस और कोलकाता भी अपनी इयता के साथ उपस्थित दिखाई पडते हैं। बनारस के मणिकर्णिका से जीवन की शुरूआत मानने वाले प्रो. तुलसीराम के मन में जड जमाए अंधविश्वासों की चूलें अब हिलने लगीं थी। बुद्ध और मार्क्स की शरण में लेखक के अंदर व्याप्त भय, डर और संशय दूर होने लगे। यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता भी ध्वस्त होने लगी। मुर्दहिया लेखक के अंदर जिन विचारों को रोप चुकी थी उसे बनारस में फलने-फूलने का मौका मिल गया। जिसका परिणाम हुआ कि लेखक मणिकर्णिका के घाटों और मंदिरों से होता हुआ कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में जा पहुँचा है और यह लेखक के लिए एक टर्निंग पॉइंट था।[13]

प्रो. तुलसीराम की आत्मकथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' भी कुछ अध्यायों में अपनी यात्रा पूरी करती है। जाहिर है इस खंड का पहला अध्याय 'मणिकर्णिका' पर होगा और यह है भी। 'स्वर्गवास मेल' के साथ लेखक बनारस में दाखिल होता है। स्वर्गवास मेल एक मिनी बस थी जिसमें मुर्दे सफर करते थे यानी मुर्दों को ढोने वाली गाडी। उसके बाद लेखक को मणिकर्णिका के दर्शन होते हैं। और जैसा कि होता आया है मणिकर्णिका की जादू से कोई बच पाया है सो प्रो. तुलसीराम भी उसकी जादू से बच नहीं पाते हैं। एक और कारण यह भी है कि यह मुर्दहिया का ही अगला पडाव है। लेखक यह कहकर 'मणिकर्णिका मेरे लिए एक नई मुर्दहिया थी' इस सत्य पर मुहर भी लगाता

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

है। लेखक-मणिकर्णिका से होते हुए बनारस को जानने-समझने की प्रक्रिया में शामिल होता है। यहाँ लेखक अपने इतिहास बोध का भी दिग्दर्शन कराता है। बनारस की पौराणिकता के साथ-साथ उसके इतिहास, उसकी संस्कृति, उसके दर्शन, उसके हर रंग-रूप, उसके हर तेवर की बानगी लेखक लिखते जाता है और पाठक उस बानगी की यात्रा में डुबकी लगाता हुआ बढता जाता है। एक गहरा रसबोध पाठक को निरंतर इस कृति से जोडे रखता है।

आमतौर पर आत्मकथाओं में लेखक अपनी कमजोरियों की चर्चा करने से कतराते हैं या बचते हैं। पर प्रो. तुलसीराम इसके अपवाद के रूप में सामने आते हैं। इसी अध्याय में उन्होंने अपने द्वारा चोरी करने की एक घटना का भी उल्लेख करते हैं। ४० पैसों की चोरी लेखक को गहरे संताप और अपराध बोध की आग में जीवन भर जलाती रही थी और अंत तक वे इससे मुक्त नहीं हो पाए।दूसरा अध्याय बडे रोचक शीर्षक में सामने आता है। शीर्षक है ‘‘गोरिया हबडा पलवा पर ठडी’ ’ । इसमें लेखक द्वारा बिताए गये कलकत्ता-प्रवास की कथा है। अर्थाभाव से छुटकारा पाने के लिए लेखक बंगाल की तरफ रवाना होता है। जैसा कि बरसों से उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग प्रवासी बनकर बंगाल की धरती पर अपना श्रम और जीवन दान देते रहे हैं और बदले में मिले अर्थ से अपने अर्थाभाव को एक हद तक दूर करने की मरीचिका में जीवन खपाते रहे हैं। प्रो. तुलसीराम भी कलकत्ता की शरण में आते हैं। आते ही इस महानगर का तिलस्म-हावडा पुल। हावडा पुल को आश्चर्य से निहारते हुए लेखक सोचता है कि इतना बडा लोहे का कंकाल कैसे खडा है। कलकत्ता की विशालता से लेखक चौंधियाता हुआ सोबरन भैया के पास पहुँचता है। वहां कलकत्ता में रहने वाले बिहार और उत्तर प्रदेश के प्रवासी मजदूरों के बाडी (रहनवाली जगह) के जरिये उनके जीवन की झांकी भी मिलती है। वहां हावडा के दासनगर में ‘पी.एल. बोस आयरन कंपनी’ में लेखक को काम मिल जाता है। बदले में रोज दो रुपया मेहताना। काम से फुरसत पाते ही लेखक कलकत्ता के निराले जीवन का आस्वाद उठाता है। यह सेर केवल सैर-सपाटे के लिए नहीं होता था बल्कि लेखक वहां के जीवन और वहां की समिश्रित संस्कृति की झांकी से भी पाठकों को परिचित करता है। लेखक की न*ार वहां पर नाना प्रकार के पेशों से अपनी जीविका चलाने वाले लोगों पर पडती है। वे अपने सामानों को बेचने के लिए आल्हा, बिरहा आदि लोक धुनों पर गीत गाते हुए फेरी लगाते। लेखक को यह सब देखकर बडा आनंद आता है।[14]

इसी अध्याय में लेखक ‘हल्लागाडी’ का जिक्र करता है। दरअसल हल्लागाडी बंगाल पुलिस द्वारा एक अभियान होता था जिसमें हर रोज शाम ढले एक नीली गाडी में आठ-दस पुलिस वाले आते थे और कहीं भी सडक या गली में आते-जाते यूपी या बिहार के मजदूरों को पकड लेते थे और उन पर अशांति फैलाने या अपराध में लिप्त रहने का झूठा आरोप लगाकार उनसे घूस लेते थे। यहाँ तक कि लेखक भी एक बार उनकी गिरफ्त में आ गया था और दो रुपए देकर किसी तरह उनकी चंगुल से छूटा था। इस प्रसंग के जरिये लेखक बिहार व यूपी के प्रवासी मजदूरों के प्रति बंगाल में, जो हिकारत और भेदभाव है, उसे पकडने में कामयाब हुआ है। आज भी इन मजदूरों को चाहे वे बडाबाजार में माल ढोने वाले मोटिया मजदूर हों या रिक्शा-ठेले वाले हों, इन्हें सम्मानित न*ार से नहीं देखा जाता है। आज भी बंगाल के लिए हिंदी भाषी ‘‘भैया या मेडो’ ’ हैं। बंगाल में यह अवधारणा थी और आज भी है कि बिहार और यूपी के लोग केवल सत्तू और मिर्च खाते हैं। इस आधार पर उनका म*ाक भी उडाया जाता था। लेखक ने इसका भी *ाक्र किया है।यहाँ लेखक शिवपुर में स्थित राम खेलावन चौबे की बाडी का भी उल्लेख करता है। यह क्षेत्र अनपढ मजदूरों से भरा पडा था। इनकी अशिक्षा इनके अंदर के अंधविश्वासों को मजबूत किये हुए थी और इनके इन अंधविश्वासों का फायदा भी खूब उठाया जाता था। भविष्य की अनिश्चयता में घिरा हुआ लेखक अंततः गालिब के इस शेर को याद करता हुआ ‘‘कलकत्ते का जो जिक्र किया तूने हमनशीं। इक तीर मेरे सीने में मारा कि हाय हाय।’ ’ बनारस के लिए गाडी पकड लेता है।

तीसरा अध्याय ‘बी. एच. यू माई की गोद में’ है। कलकत्ता से वापसी के बाद बनारस का बी. एच. यू. सही मायने में लेखक के लिए माई का गोद साबित हुआ। इंटर की परीक्षा पास करने के बाद आगे की पढाई के लिए लेखक बी. एच. यू. में दाखिला लेता है। यहाँ से लेखक के जीवन में संघर्ष के दूसरे रूपों की शुरूआत होती है। अब जाति के आधार पर वंचना के नये क्रमों की शुरूआत हुई। सबसे पहले आवास की समस्या आई। दलितों को बनारस में किराए का मकान नहीं मिलता था। उन्हें अपनी जाति छिपानी पडती थी। कोई शर्मा जी बनता था तो कोई पंडित जी तो कोई शुक्ला जी। दलित छात्रों के लिए बनारस में जो छात्रावास थे उनकी हालत बडी खराब थी इसीलिए मजबूरन दलित छात्रों को किराए पर मकान लेना पडता था और अपनी पहचान छुपानी पडती थी। जाति - संकट से जूझते हुए इनको अपनी पढाई जारी रखनी पडती थी। यह पीडा वही समझ सकता है जो इसका भुक्तभोगी हो। इस भेदभाव से जूझते हुए लेखक महाकवि तुलसीदास को याद करता है- ‘‘जद्यपि जग दारुण दुख नाना, सबसे कठिन जाति अवमाना’ ’ जाति का दंश झेलना हमारे इस समाज में किसी अभिशाप से कम नहीं है।

लेखक का दूसरा संघर्ष भूख के स्तर पर था। धनाभाव के कारण लेखक को अक्सर भूखा रहना पडता था। सन् १९६६ से लेकर १९६७ का समय लेखक के लिए बडे दुर्दिनों से भरा रहा। जातिगत यथार्थ के कारण बार-बार नये आवास की तलाश में लेखक को दोहरा जीवन जीना पडता था। हर रोज अपनी जाति को छिपाकर दूसरी बडी जातियों की ओट में छिपना पडता था। ऊपर से भूख की पीडा अलग। लेखक बडे शिद्दत से सन् १९६८ में नौ दिन भूखे रहने की घटना को याद करता है। उस नौ दिन के उपवास में तन और मन दोनों डगमगाए। दशाश्वमेध घाट पर भिखारियों में खिचडी बँटते देख लेखक का मन हुआ कि वह भी भिखारियों के बीच जाकर बैठ जाए और अपनी भूख मिटा ले। पर आत्मसम्मान ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। उस समय उनकी एक धारणा कि ‘बनारस में कोई भूखा नहीं रहता’ टूटकर

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

बिखर गई और उन्हें यह विश्वास हो गया कि मान्यताओं या आस्थाओं से जिंदगी नहीं चलती। भूख से लडना एक विकराल समस्या थी पर अंततः शेक्सपीयर की किताब 'ओथेलो द मूर ऑफ वेनिस' काम आई। ढाई रुपये में ओथेलो बिके और पेट में खिचडी गई। भूख से लडने में किताब काम आई।इस अध्याय में लेखक विश्वविद्यालय के राजनीतिक परिवेश के ब्यौरे को भी पेश करता चलता है। उस समय बी. एच. यू. छात्र-राजनीति का सबसे बडा केंद्र था। यहाँ सभी प्रकार की विचारधाराओं का प्रवाह था। लेखक इस प्रवाह में अपने लिए भी एक सशक्त विचाराधारा की तलाश कर रहा था।[15]

चौथे अध्याय 'माक्र्सवादी चमत्कार' में माक्र्सवाद के प्रति लेखक के रुझानों और प्रतिबद्धताओं के बारे में चर्चा है। लेखक को बी. एच. यू. में राजनीतिक तौर पर अब एक विचाराधारा मिल गई थी और वह थी कम्युनिज्म। प्रो. तुलसीराम को प्रखर माक्र्सवादी चिंतक और विचारक राहुल सांकृत्यायन की एक पुस्तक मिली- 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' । बचपन से इस किताब को पढने की ललक लेखक में थी पर किताब उपलब्ध नहीं हो पा रही थी। इस किताब ने लेखक को बदल डाला। इसके जादुई प्रभाव से लेखक पक्का कम्युनिस्ट बन गया। राहुल जी के तर्क से कायल होकर लेखक की आस्तिकता खंडित होने लगी। प्रश्ा* पैदा होने लगे। ईश्वर की सत्ता पर अब संदेह जगने लगा। अंततः राहुल के साथ बुद्ध ने लेखक की आस्तिकता के सारे कपाट बंद कर दिए। लेखक पूर्ण रूप से नास्तिक बन गया। लेखक का कायांतरण हो गया। नास्तिकता और कम्युनिज्म ने लेखक को ज्ञान और तर्क की ऐसी दुनिया में दाखिल करा दिया जहाँ केवल ज्ञान और पढने की भूख थी। इस ज्ञान और तर्क की ऐसी दुनिया में दाखिल करा दिया जहाँ केवल ज्ञान और पढने की भूख थी। इस ज्ञान ने क्रांति की लौ भी लेखक के अंतर्मन में प्रज्जवलित कर दिया था। माक्र्सवाद ने लेखक में इतनी हिम्मत पैदा की कि अब वे जाति के भेदभाव से निपटना सीख गये और साहस के साथ खडे होकर समाज को ललकारने लगे। इस ललकार में राजनीति भी उनका एक हथियार बनी। केवल विश्व विद्यालय की राजनीति ही नहीं बल्कि देश और विदेश की राजनीति भी उनकी दिलचस्पी का केंद्र थी। देश की राजनीति जिस तरीके से करवट ले रही थी, उसका बारीकी से प्रो. तुलसीराम ने *ाक्र किया है। केवल देश की राजनीति ही नहीं अपितु अंतरराष्ट्रीय पटल पर घट रही घटनाओं पर भी उनकी पैनी न*ार बनी रही।पाचवाँ अध्याय 'नक्सलबाडी की बसंती दहाड' है जिसमें नक्सलवाद को लेकर लेखक के अपने आकर्षण और अंतर्विरोधों की दास्तान है साथ ही इसमें नक्सलवादी आंदोलन का पूरा इतिहास भी दर्ज है। हर किशोर की तरह क्रांति का स्वप्न पालते हुए लेखक नक्सलवादी विचारधारा की ओर मुडता है।' पोलिटिकल पावर ग्रोज ऑन द बैरल ऑफ गन' यानी राजनीतिक सत्ता बंदूक की नली से पैदा होती है - माओ की यह उक्ति लेखक को क्रांति का दिवा स्वप्न दिखाती है और ऊर्जा भी देती है। इस अध्याय में कोलकाता का इतिहास भी बडे सुंदर ढंग से रूपायित हुआ है।

छठे अध्याय को लेखक 'वैचारिक द्वंद्व' का नाम देता है। सन् १९६६ से लेकर १९७६ तक का समय लेखक के वैचारिकता के निर्माण का समय था। बुद्धिज्म, माक्र्सवाद, माओवाद, अस्तित्वाद आदि से प्रभावित व प्रेरित होता हुआ लेखक एक प्रकार के वैचारिक अंतर्विरोधों से घिरा था। राहें अनेक थीं सो उलझने भी थीं। पर अंततः सारे अंतर्विरोध कटते गये। इस वैचारिक यात्रा में लेखक को बुद्ध बार-बार रोशनी दिखाते हैं। जब-जब जीवन में भटकने की नौबत आई तब-तब बुद्ध उस राह में खडे दिखाई पडे। बौद्ध-दर्शन में गहरी संपृक्ति लेखक को डगमगाने से बचाती रही।इधर बनारस में कम्युनिस्ट पार्टी भी जातिगत संकीर्णता का शिकार हो गई थी। दलित प्रश्ा*ों के प्रति इस पार्टी की उदासीनता प्रो. तुलसीराम को निराश कर देती है। प्रो. तुलसीराम पार्टी के समर्पित कार्यकर्ता थे पर उनकी तमाम प्रतिबद्धताओं के बावजूद पार्टी में उन्हें अनदेखा किया जाने लगा। वे पार्टी में गुटबंदी के शिकार हो गये। एक षड्यंत्र के तहत उन्हें पार्टी के तमाम महत्त्वपूर्ण पदों से हटा भी दिया गया। जाहिर है इससे उनका मोहभंग होना स्वाभाविक था। इसी अवस्था में उन्होंने बनारस छोडने का निर्णय ले लिया। अंततः क्रांति का स्वप्न ध्वस्त हो गया। २१ जनवरी, १९७६ को बनारस भी छूटा।सातवाँ अध्याय 'प्रीति करै न कोय' है। नामवर सिंह इस अध्याय को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसका कारण यह है कि इसमें तीन प्रेम कहानियाँ हैं एक तरह से लेखक का यह प्रेमाख्यान है। इसमें लेखक नायक है और तीन नायिकाएँ हैं। नामवर सिंह इन तीनों उप-अध्यायों को इस कृति का प्राण मानते हैं। इसके पीछे वाजिब वजहें हैं। कोई भी आत्मकथा प्रेम की बिना अपने आप में अधूरी होती हैं। जैसे हर जीवन में प्रेम का एक कोना सुरक्षित रहता है ठीक वैसे ही हर आत्मकथा में प्रेम भी अपनी कुछ निशानियाँ छोड जाता है और लेखक इन निशानियों को आख्यान का जामा पहना देता है।

अध्यायों में नदी की धारा की तरह प्रवाहित इस आत्मकथा में केवल 'मैं' की लहरें नहीं हैं बल्कि 'अन्य' की लहरियां भी हैं। 'मैं' के साथ 'अन्य' का आना स्वाभाविक है पर 'मैं' के चक्कर में 'अन्य' कभी-कभी शूली पर चढ जाता है। पर यहाँ 'अन्य' की बात करते वक्त उन्हें कठघरे में खडा नहीं किया गया है। इस आत्मकथा की यह भी एक खासियत है। इस आत्मकथा में कुछ न भूलने वाले चरित्र हैं। कुल मिलकर यह कहा जा सकता है कि यह आत्मकथा सही अर्थों में केवल एक आत्मकथा न रहकर भारतीय समाज के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण दस्तावे*ा बन जाता है। इस प्रसंग में नामवर सिंह कहते हैं कि इतिहास का मूक नायक अब मूक नहीं रहा और यह तथ्य है कि अब इतिहास इन्हीं मूक नायकों द्वारा लिखा जाएगा। अतः यह केवल एक व्यक्ति की कहानी नहीं है, बल्कि यहाँ पूरा प्रदेश अपनी सांस्कृतिक पहचान और अंतर्विरोधों के साथ है। इस आत्मकथा में भारत की सामाजिक संरचना से जुडे सवाल ऐसे सवाल हैं जिन्हें लेकर अब समाज सुगबुगाने लगा है। बहुत सारे सवालों के साथ प्रो. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' एक मायने में अधूरी आत्मकथा भी है क्योंकि आत्मकथाएं कभी पूरी नहीं होतीं। [16]

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

आशय

'मुर्दहिया' पढ़ते हुए लगता है जब जीवन इतना अधिक हो तो उस पर जीवनी, उपन्यास या जीवनोप्न्यास लिखने के लिए जीवन से इतर कुछ और लेकर नहीं आना चाहिये बल्कि जीवन और जीवनी से बीच साहित्य लेखन के सभी आग्रहों को हटा देना चाहिए और जीवनी या जीवनोप्न्यास को होने देना चाहिये.ऐसे विकट और विराट जीवन को अभिव्यक्ति के लिए ऐसी भाषा चाहिए, जो अभी बस अभी जीवन से निकली हो. जिस अभिव्यक्ति में बस जीवन मुखर हो; भाषा, तकनीक और युक्तियाँ जीवन के काम आने के लिए नेपथ्य में प्रतीक्षा करती हुई व्याकुल खड़ी हों.

मुर्दहिया से भाग कर तुलसी राम विद्वान बने, विचारक बने, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर रशियन एंड सेंट्रल एशियन स्टडीज़ में प्रोफ़ेसर हुए, विभिन्न देशों जैसे अंगोला, अमेरिका, ईरान, और रशिया पर साधिकार किताबें लिखीं . लेकिन 'मुर्दहिया' सबसे बाद में लिखी. 'मुर्दहिया' उनकी सोची हुई योजना नहीं थी. वे एक्सीडेंटल राईटर बने. बावजूद इसके विष्णु खरे ने तुलसी राम की मृत्यु पर चार साल पहले (2015 में) अपने लेख 'जीवनी अमर, अमर जीवनी' में लिखा:

"डॉ. तुलसीराम ने और कुछ न किया होता, सिर्फ़ 'मुर्दहिया' ही लिखी होती, तो वह उन्हें भूमंडलीय स्तर पर अजर-अमर बनाने के लिए पर्याप्त थी."

किताब की भूमिका में तुलसी राम आज़मगढ़ की मुर्दहिया को निकालने का श्रेय 'तद्भव' संपादक अखिलेश को देते हैं. उसी लेख में विष्णु खरे ने यह भी लिखा कि

"मुर्दहिया' की पहली क़िस्त पढ़कर यकीन ही नहीं हुआ कि ऐसा लिखा भी जा सकता है."

औपनिवेशिक साहित्यिक विरासत से ख़ुद को आज़ाद करनेके लिये लैटिन अमेरिका के लेखकों ने अपने 'बूम' के दिनों में जादुई यथार्थ की शैली विकसित की; जो मिथक, स्वप्न, फैंटेसी से मिश्रित उनके इतिहास और संस्कृति के यथार्थ को बेहतर परिपेक्ष्य में अभिव्यक्त करती थी. लेकिन तुलसी राम ने जैसे 'मुर्दहिया' लिखी, तो ऐसे लगता है कि धरमपुर के जीवन का यथार्थ जादुई यथार्थ की तकनीक में भी नहीं समा सकता, क्योंकि मुर्दहिया के जीवन में सुपरनैचुरल नैचुरल में इस तरह अनुस्यूत है कि इसे दो शब्दों में नहीं कहा जा सकता. 'मुर्दहिया' जीवनी और उपन्यास की प्रतिष्ठित शैलियों को लांघ कर लिखी हुई किताब है. मुर्दहिया को केवल एक साफ़ नज़र चाहिए; जो मुर्दहिया के गिद्धों, सियारों, भूतों, सूअरों, कुत्तों, चमरिया माई, डीह बाबा,और धरमपुर की चमरौटी और बभनौटी के पात्रों को उनकी वास्तविकता के आलोक में समझ सके. एक दृष्टि जो गिद्धों को प्रतीकात्मकता में नहीं, बल्कि मुर्दहिया के इकोसिस्टम में एक ज़रूरी सदस्य की तरह और मुर्दहिया के जीवन संघर्ष में मनुष्यों और दूसरे जानवरों के प्रतिद्वंदी की तरह देख सके.[17]

"जिस समय कोई चमार पुरुष मरे हुए जानवर का चमड़ानिकालना शुरू करता, अचानक सैंकड़ों की संख्या में गिद्ध मंडराने लगते तथा दर्जनों कुत्ते आकर भौंकने लगते थे. कुछ सियार भी चक्कर मारते, किन्तु कुत्तों और महिलायों की उपस्थिति को देखते हुए वे पास नहीं आ पाते. मरे पशु के मांस के बंदरबांट में महिलायों के साथ कुत्तों की उग्र होड़ मच जाती थी"

'मुर्दहिया' की भूमिका में तुलसी राम लिखते हैं:

"...मरे हुए पशुओं के मांसपिंड पर जूझते सैंकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला-स्थली के रूप में बदल देते थे."

इस किताब में 'मुर्दहिया के गिद्ध तथा लोकजीवन' पर पूरा अध्याय समर्पित है.

"मुर्दहिया पर मुर्दा मांस खाने के बाद सैंकड़ों गिद्ध उस पशु कंकाल से थोड़ी दूर हटकर अपनी टेढ़ी घेंटी लिये घंटों तक मौनव्रती के रूप में किसी तपस्वी की तरह बैठे रहते थे. घंटों तक शांत बैठे ये गिद्ध ऐसा लगता था कि मानो वे मुर्दहिया के भूतों को शोकांजलि देने के लिए विपस्सना कर रहे हों."

मुर्दहिया के भूतों के बारे में भी तुलसी राम ने इसी विलक्षण अंदाज़ से लिखा है. यह उपन्यास भूतों द्वारा गाँव वालों की हत्या, साही का भूत बन जाना, सूअरों की बलि देना, बरसात में पानी में तैरते चूहों (जिन्हें दलित बच्चे पकड़कर घर ले जाते हैं, ताकि खाद्यान्न का टोटा होने पर उन्हें सुखा-पका कर खाया जा सके) आदि दृश्यों से भरा पड़ा है. लेकिन मुर्दहिया में कहीं भी कलात्मक अन्थ्रोपोमोर्फिज़म का प्रयोग नहीं है. मुर्दहिया में प्रकृति और समाज के अंतर्संबंधों में हिंसा और सहजीवन दोनों के उद्धरण मिलते हैं, लेकिन मुर्दहिया का जीवन फिर भी अति सक्रिय जीवन है. तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' को मुर्दहिया के अपने जीवनानुभव के पचास साठ साल बाद लिखा; जब वे मार्क्स, अंबेडकर और बुद्ध के दर्शन में प्रबुद्ध हो चुके थे. निश्चित ही इस किताब में उनके मुर्दहियोत्तर जीवन में संचित ज्ञान का गहरा प्रभाव है, लेकिन 'मुर्दहिया' केवल लेखक की संपन्न पश्च-दृष्टि का प्रतिफलन नहीं है. तुलसी राम जब अपने बचपन का उल्लेख करते हैं;तो अपने

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

भूत-पूजक होने, चमरिया माई को 'धार पुजौरा चढ़ाने' की बात भी उसी तन्मयता से बताते हैं जिस लगन से वे बौद्ध और समाजवाद के दर्शन की बातें करते हैं.

'मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी' 'मुर्दहिया' का पहला वाक्य है. तुलसी राम मूर्खता या मुर्दहिया में दलित बस्ती के लोगों के सर्वथा अशिक्षित होने का महिमामंडन नहीं करते. लेकिन वे ख़ुद पर हँसने और आत्म दया के भाव से अलग आश्चर्यचकित और द्रवित कर देने वाले वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मुर्दहिया के सामूहिक और अपने निजी जीवन की व्याख्या करते हैं. तुलसी राम बताते हैं कि चेचक से पीड़ित हो जाने के कारण मात्र तीन वर्ष की उम्र में ही उनका प्रवेश मुर्दहिया के 'अशुभ' व्यक्तियों की श्रेणी में हो गया था. जिस में उनके साथ गाँव का निरवंशी ब्राह्मण जंगू पाण्डेय और एक निस्संतान विधवा औरत थी, इन लोगों के आम के पेड़ को छू भर देने से लोगों को लगता था कि इस पर बौर नहीं आएँगे.[11]

हवा को गाँठ लगा देने वाली बौद्धिक उठान की बातें साहित्य में मिल जाती हैं, लेकिन मैनें कभी किसी को चेचक के दागों से भरे हुए अपने ही चेहरे की ऐसी व्याख्या करते हुए नहीं देखा :

"चेचक का प्रकोप हटते ही मेरी पूरी देह पर गहरे गहरे दाग पड़ गए. विशेष रूप से मेरा चेहरा इन दागों का भंडारण क्षेत्र बन गया. गाँव में लोहार अनाज से मिट्टी या कंकड़ निकालने के लिए लोहे की पतली चद्दर काटकर उसे बड़ी चलनी का रूप देते थे और उसकी पेंदी में सैंकड़ों छेद कर देते थे, जिसे 'आखा' कहते थे. आखा की पेंदी का बाहरी हिस्सा छेनी के छेद से खुरदरा हो जाता था. मेरा चेहरा इसी आखा के बाहरी हिस्से जैसा हो गया था."

उपेक्षा, वंचना और अकेलेपन के बेहद दर्दनाक क्षणों की व्याख्या तुलसी राम इसी सहजता से करते हैं. उन्होंने बौद्ध दर्शन को आत्मसात करके अपने गुज़रे हुए जीवन को मुड़ कर देखा और उसे सिर्फ़ याद नहीं किया,बल्कि उसे सुलझाया भी. पढ़ते-लिखते तो बहुत लोग हैं, लेकिन पढ़ना लिखना जीवन सुलझाने के काम आ जाए-यह दुर्लभ होता है. अकाल की विभीषिका में जब पानी का स्रोत कहीं नहीं था और और तुलसी राम को किसी अन्य गाँव में पांचवीं की परीक्षा देने गये, तो किसी ने उनके दलित होने के कारण उन्हें पोखरे में नहाने नहीं दिया. तुलसी राम ने लिखा है कि *दो दशक बाद जब महाकवि शूद्रक का सदाबहार नाटक 'मृच्छकटिकम' के आठवें अंक को पढ़ा, तो मेरी दुर्भावना हमेशा के लिए मिट गयी.* शकार को बौद्ध भिक्षु का कुत्तों और सियारों के लिए खुदवाए तालाब में अपना चीवर धो लेना भी मंजूर नहीं था. इसलिए वह बार बार भिक्षु को अपमानित करता है. तुलसी राम लिखते हैं कि ज़ाहिर है प्राचीनकाल में वैदिक हिंसावादियों के चलाए बौद्धविरोधी अभियान के दौर में लिखे गए इस नाटक में जाति व्यवस्था विरोधी बौद्धों को अपशकुन समझा जाता था.[12]

" बबुरा धनहुवां के पोखर पर पहुँचने से पहले जो कुछ मेरे साथ हुआ उसमें रामचरण भैय्या मेरे आधुनिक शकार थे.'मृच्छकटिकम' के बौद्ध भिक्षु के बारे में जानता होता तो शायद उतनी पीड़ा की अनुभूति नहीं होती...इस घटना ने उस पुरानी पीड़ा से मुझे मुक्त कर दिया और मुझे लगने लगा कि वैसी दुर्घटनाएं बदले की भावना से नहीं, बल्कि वैचारिक चेतना से ही रोकी जा सकती हैं".

तुलसी राम जब मुड़ कर मुर्दहिया को देखते हैं, तो मुर्दहिया के जीवन को व्यापक संदर्भों में स्थापित करते हैं.

"मेरे जैसे तमाम दलित छात्र वही महुवे का 'लाटा' तथा 'चोटे में सने सूखे सत्तू' की गठरी लिए चल पड़े. हैडमास्टर साहब के आदेश से हम लाईन बनाकर सैनिकों की तरह परेड करते हुए सात मील का रास्ता तय करके इम्तिहान स्थल पर पहुंचे थे. हमारा यह अभियान माओत्से तुंग के उस ऐतिहासिक 'लांग मार्च' से कम नहीं था, क्योंकि उसमें तो वही 'लाटा सत्तू' वाले ही लोग शामिल थे."

ज्ञान और संवेदना के इस स्वरुप से जाति व्यवस्था से ग्रस्त भारतीय समाज की हीलिंग होनी चाहिये थी, लेकिन आज़ादी के बाद भारतीय समाज में दलित आन्दोलन अपनी निर्णायक लगने वाली शुरुआत के बावजूद खंडित होता गया और अंततः वोट की राजनीति का ईंधन बन गया. तुलसी राम निरंतर अपने भाषणों और लेखों में इस विघटन की आलोचना करते रहे और दलित विमर्श को दिशा देने की कोशिश करते रहे. तुलसी राम की मृत्यु पर **दिलीप मंडल** ने बीबीसी के लिए लिखे लेख में तुलसी राम को 'भारत का ग्राम्शी' कहा है.[9]

"ग्राम्शी जिस तरह इटली के वंचितों की बात करते हुए 'सदर्न क्वेश्चन' में वर्गीय प्रश्नों से परे जाते है, उसी तरह प्रोफ़ेसर तुलसीराम के वंचितों की परिभाषा में ग़रीब भी हैं और दलित-बहुजन भी...वे अपने भाषणों में और लेखन के जरिए बताते हैं कि बहुजन समाज भी ब्राह्मवादी मिथकों की चपेट में है और यह उनके विकास में अड़चन है."

धरमपुर के कनवा को केवल चिट्ठी पढ़ने योग्य बनाने के लिए स्कूल भेजा गया, लेकिन शिक्षा के मिले हुए इस मद्धम से मौके को उस बालक ने अथक संघर्ष करके स्वर्णिम अवसर में बदल लिया. मुर्दहिया के माहौल के योगदान की प्रशंसा नहीं की जा सकती (क्योंकि मुर्दहिया अपनी मूल बसावट में ही दलितों की उपेक्षा करता हुआ उन्हें दक्षिण दिशा में धकेल देता था,क्योंकि ब्राह्मणों की मान्यता के अनुसार सारी प्राकृतिक आपदाएँ दक्षिण दिशा से आती हुई मानी जाती थीं) लेकिन तुलसी राम को सलाम किया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने शिक्षा के मिले छोटे से अवसर को बहुत गंभीरता से ग्रहण करते हुए सजग होकर उसे मुकाम तक पहुँचाया. हिंदी के अप्रितम गद्यकार अनिल यादव ने भी तुलसी राम के देहात पर बीबीसी के लिए लेख में लिखा :

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

"उन्हें देखकर हमेशा मुझे उस धातु की महीन झंकार सुनाई देती थी जिसके कारण भुखमरी, जातीय प्रताड़ना का शिकार, सामंती पुरबिया समाज में दुर्भाग्य का प्रतीक वह चेचकरू, डेढ़ आंख वाला दलित लड़का घर से भागकर न जाने कैसे अकादमियों में तराश कर जड़ों से काट दिए गए प्रोफेसरों की दुनिया में चला आया था.–अपमान से कुंठित होने के बजाय पानी की तरह चलते जाने का जज़्बा उन्हें बहुतों के दिलों में उतार गया था."

पिछले बीस पच्चीस बरसों में वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय समाज की संरचना में इतने परिवर्तन आए हैं कि पचास वर्ष पुराना भारतीय जीवन प्राचीन काल का लगने लगा है. 'मुर्दहिया' में लेखक की भरुक्की में अपने बेशकीमती सैंतीस 'बिस्तौरिया' संभालती और सींग में नमक और हींग सहेजने वाली दादी, बंकिया डोम, पग्गल बाबा, हिंगुआरा और तुलसी राम से अंग्रेज़ी का एक वाक्य 'वल्चरज़ आर सिटिंग ऑन पीपल ट्री' सीख कर अचंभित और रोमांचक हो जाने वाली नटिनी जैसे पात्र बेहद रोचक होते हुए भी अविश्वसनीय लगते हैं, क्योंकि समकालीन संस्कृति में आधार कार्ड से व्यक्त होती हुई अस्मिता असंदिग्ध है. इसके अलावा हमारा विलक्षण सामर्थ्य और सनक अनुपयोगी है. 'मुर्दहिया' का वितान एक उत्कृष्ट फिल्म के वितान की तरह है जिस में अगर चरित्र स्क्रीन से एक बार गुज़र भी जाए तो वह स्मृति में ठहर जाता है.

'मुर्दहिया' में मुर्दहिया गिद्धों, सियारों, भूतों और मनुष्यों की बहुद्देशीय कर्मस्थली तो रहती है, लेकिन धीरे धीरे मुर्दहिया दर्शन पीठ बन जाती है. [10] जीवन की विषमता को सम कर देने वाली भूमि. 'मुर्दहिया' की यात्रा थका देने वाली और प्रेरित करने वाली यात्रा है, इसे पढ़ते हुए पंजाबी कवि हरभजन सिंह की कविता 'हे महान ज़िंदगी! नमस्कार नमस्कार' की याद आती है. जीवन के असंभव, सुन्दर, असुंदर स्वरुप को देखकर अंततः रुदन में केवल जीवन का गुणगान किया जा सकता है. मुर्दहिया का बेहंगम संसार विचलित कर देने वाला संसार है, लेकिन फिर भी मुर्दहिया का जीवन प्रामाणिक जीवन है. इस में दुःख और वंचना बहुत है, लेकिन यह कृत्रिम हरगिज़ नहीं. तुलसी राम कहते हैं कि 'मुर्दहिया' लिखने तक मुर्दहिया भी वही नहीं रही, उजड़ गई है; लेकिन इस किताब की वजह से मुर्दहिया अमर है. यह विशुद्ध भारतीय जगह है, हमारे कलुषित यथार्थ का स्मरण कराती हुई हार्टलैंड है मुर्दहिया. तुलसी राम ख़ुद भी मुर्दहिया से एक बार जो बिछड़े तो फिर नहीं लौटे लेकिन वे लिखते हैं :

"मुर्दहिया न जाने कितने वर्षों से अनगिनत लोगों के दुःख-दर्द को जलाकर राख करती आ रही थी. और न जाने कितने लोगों के दुःख को अपनी धरती में दफना लिया था. और आगे भी इन दुखों को जलाती-दफनाती रहेगी. उस दिन मुझे भी बड़ी गहराई से अनुभूति हुई थी कि मेरे अन्दर भी एक मुर्दहिया जन्म ले चुकी थी, जिसमें भविष्य के न जाने कितने ही दुःख-दर्द जलने और दफ़न होने वाले थे. जब मैं पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल पास करने के बाद पढ़ाई छूट जाने के कारण घर से 1964 ***में भागा, तो उसी मुर्दहिया से होकर अंतिम बार गुज़रा था, वैसे तो मैं अकेला ही था किन्तु हकीकत तो यही थी कि चल पड़ी थी मेरे साथ मुर्दहिया भी.***

जब मुझे मालूम हुआ कि दुनिया में दुःख है, दुःख का कारण है और उसका निवारण भी, तो ऐसा लगा कि इस सत्य को ढूँढने से पहले तथागत गौतम बुद्ध कभी न कभी मेरी मुर्दहिया से अवश्य गुज़रे होंगे."

परिणाम

इनकी आत्मकथा ने पाठकों को बहुत क़रीब से छुआ और हिंदी पट्टी के उस सामाजिक ताने बाने को सबके सामने ला दिया जिसमें दलित का जीवन बहुत ही कठिन होता है.[8]

अपने गांव से बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और फिर दिल्ली और यहां जेएनयू में अध्यापन तक का उनका जीवन बहुत संघर्षपूर्ण रहा. वे लंबे समय तक स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज़ में प्रोफेसर रहे. लेकिन कभी उस फ़र्मे में फ़िट नहीं बैठे जिसमें सगर्व समा जाने के बाद जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी (जेएनयू) के ज़्यादातर अध्यापक चमकीले प्लास्टिक के बने ज्ञानी लगने लगते हैं. उन्हें देखकर हमेशा मुझे उस धातु की महीन झंकार सुनाई देती थी जिसके कारण भुखमरी, जातीय प्रताड़ना का शिकार, सामंती पुरबिया समाज में दुर्भाग्य का प्रतीक वह चेचकरू, डेढ़ आंख वाला दलित लड़का घर से भागकर न जाने कैसे अकादमियों में तराश कर जड़ों से काट दिए गए प्रोफेसरों की दुनिया में चला आया था.अपमान से कुंठित होने के बजाय पानी की तरह चलते जाने का जज़्बा उन्हें बहुतों के दिलों में उतार गया था.मुझे इसका अंदाज़ा पिछले साल एक शाम चंडीगढ़ में एक पार्क की बेंच पर हुआ जब कवयित्री प्रो. मोनिका कुमार ने कहा था, "मैं उनको प्यार करती हूं. उनसे उन सब चीजों के लिए माफी मांगने का मन करता है जो उन्हें दलित होने के नाते जिंदगी में सहनी पड़ीं."[7]

आजमगढ़ के चिरइयाकोट में तुलसी राम का गांव धरमपुर मेरे अपने गांव से थोड़ी ही दूरी पर है, लेकिन उनसे मुलाक़ात उनकी आत्मकथा 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' के पन्नों पर हुई.

उन्होंने मेरे गांव के दक्खिन टोले की वह दुनिया दिखाई जो मैं उसी हवा में पलने के बावजूद नहीं देख पाया था. दलित आत्मकथाएं बहुत लिखीं गई हैं, लेकिन उनमें से ज़्यादातर छुआछूत और उत्पीड़न की सिर्फ शिकायत करती हैं.हद से हद प्रतिशोध में इस क़दर

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

फुफकारती हैं कि जेल जाने की नौबत आने पर बसपा सुप्रीमो मायावती द्वारा अक्सर बोले जाने वाले 'दलित की बेटी' वाले जुमले की याद आ जाती है.

तुलसी राम ने दिखाया कि दलित सिर्फ बिसूरते नहीं हैं, उनकी भी आत्मसम्मान की रक्षा के लिए लड़ने की परंपरा है, अपने हथियार हैं. जब पानी सिर के ऊपर चला जाता है तो मुर्दहिया की दलित औरतें सवर्ण जमींदारों और ब्राह्मणों को बम की तरह हंड़िया (जिनमें औरतों की जचगी के बाद का जैविक कचरा भरा होता था) और तलवारों की तरह जानवरों की ठठरियां लेकर दौड़ाती थीं और वे अपवित्र हो जाने के डर से भागते थे.ऐसी हड्डी की तलवारें मैने दलितों के घरों में देखी जरूर थीं, लेकिन उनका इस्तेमाल देखने का मौका शहर और गांव की आवाजाही के बीच नहीं लग पाया था. घनघोर प्रताड़ना के बावजूद उन्होंने आत्मकथा में उन सदाशय सर्वणों को भी याद रखा जिन्होंने एक वक़्त खाना खिलाया, फीस भरी या चुपचाप चलते रहने का हौसला दिया.मुझे इन्हीं दो बातों के बीच वो विज़न दिखाई देता है, जिससे दलित आंदोलन अंबेडकर की अंधपूजा करते हुए गांधी, मुंशी प्रेमचंद, लोहिया और कम्युनिस्टों को गाली देते हुए सत्ता के लिए निहायत अवसरवादी गठजोड़ बनाकर अवरुद्ध हो जाने से छूटकर आगे कामयाबी की ओर जा सकता है.इन दिनों दलित नेताओं, नौकरशाहों, कारोबारियों के बीच धनी हो कर शहरों में स्थापित होने के बाद नई मनमाफ़िक बीवी लाने और नया अतीत बनाने का चलन है.लेकिन तुलसीराम ने अपनी जड़ों को जिस सरलता से याद किया और अपनी पक्षधरता को बेधड़क लिखा वह दुर्लभ है.जब तक समानता सिर्फ स्वप्न है पूरा भारत मुर्दहिया है, जिसमें तुलसी राम की धातु की झंकार जब भी कोई कोशिश करेगा सुनाई देगी. उन्हें सलाम.[6]

निष्कर्ष

प्रो.तुलसीराम आधुनिक दौर में बुद्ध, अम्बेडकर एवं मार्क्स के बीच की कड़ी माने जाते हैं। आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय जी ने प्रो. तुलसीराम को राहुल सांकृत्यायन की परंपरा में रखा है। वे दोनों में साम्य दिखाते हुए कहते हैं कि, "राहुल भी बुद्धिज्म से मार्क्सिज्म की ओर आये थे और तुलसीराम भी। और दोनों आजमगढ़ के भी रहने वाले थे।" यह सच है कि तुलसीराम मार्क्स के विचारों से प्रभावित थे पर उन्होंने बुद्ध एवं अम्बेडकर के विचारों को गहरे से अंगीकृत किया था। बुद्ध की करुणा उनकी 'मुर्दहिया' आत्मकथा में झलकती है तो दूसरी ओर मार्क्स एवं अम्बेडकर के विचार उनकी मणिकर्णिका में दृष्टिगोचर होते हैं।[15] जब वे अम्बेडकर के विचारों का पल्लू पकड़कर भारतीय व्यवस्था के ऊपर दृष्टिपात करते हैं तो अधिक प्रखर हो उठते हैं। यह कहना सही होगा कि तुलसीराम ने भारतीय समाज व्यवस्था के भीतर पायी जाने वाली कुरीतियों को बहुत गहरे से उजागर किया है।

तुलसीराम विचारों से बहुत स्पष्टवादी थे, वे बिना किसी लाग-लपेट के भारतीय राजनीति विशेषकर दलित-पिछड़ी राजनीति पर बोलते हैं। उनका मत है कि किस तरह से समाजवादी सरकार ने दलितों के साथ भेदभाव किया था-"उत्तर प्रदेश में समाजवादी सरकार आने के बाद बरेली के पास ही एक गाँव के मंदिर में दलितों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया था" यह कृत्य उस समाजवादी विचारधारा की है जो खुद को समाज का ठीकेदार समझती है। तुलसीराम ने यहीं तक नहीं देखा है उन्होंने यह भी कहा है कि दलितों के राजनीति में प्रवेश के समय वे हाशियाकृत थे, जब से कांशीराम ने बहुजन समाज पार्टी की नींव डाली और जातियों का सम्मलेन शुरू करने का आह्वान किया तब से दलित सामाजिक आन्दोलन कुंद पड़ता गया और राजनीति हावी होती गयी।[16]

वे इसका जिम्मेदार मायावती को मानते हैं। उनकी नीतियों को मानते हैं। उन्होंने कहा कि-"यदि समाज बदलना है तो सामाजिक आन्दोलन बहुत जरूरी है। सामाजिक आंदोलनों का राजनीतिक आंदोलनों पर वर्चस्व होना चाहिए।" निस्संदेह यदि भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों का गौर से मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर का आन्दोलन उस समय एक सामाजिक आन्दोलन था, जिसने राजनीति को विवश कर दिया अपनी नीतियों में तब्दीली करने के लिए। उन्होंने लिखा भी कि-"गाँधी, अम्बेडकर की लड़ाई भिन्न थी। गाँधी राजनीतिक आजादी चाहते थे, अम्बेडकर राजनीतिक आज़ादी के साथ सामाजिक आज़ादी तथा समानता चाहते थे।" कालान्तर में अम्बेडकर की इस मंशा को उन्हीं के उत्तराधिकारियों ने बेच डाला।

प्रो. तुलसीराम ने बड़े कड़े शब्दों में इसकी पोल खोलते हुए दिखाया है कि किस तरह महाराष्ट्र में दलित मूवमेंट ख़त्म हो गया। अम्बेडकर जी की पार्टी 'रिपब्लिक पार्टी आफ़ इण्डिया' सैकड़ों टुकड़ों में बंट गयी। 'दलित-पैंथर' जो अफ़्रीका के आन्दोलन से प्रभावित था, उसके लोग बिक गए। उन्होंने स्पष्ट किया कि आर.पी.आई. के चार धड़े हुए जिनमें, रामदास अठावले- शिवसेना-बीजेपी, प्रकाश आम्बेडकर- एन.सी.पी., योगेन्द्र कबाड़े- बीजेपी, आर.एस. गवई- कांग्रेसी हो गए और सत्ता भोग में लिप्त हो गए। तुलसीराम की मुख्य चिंता यह रही है कि राजनीति से कभी हाशियाकृत समाज की स्थिति नहीं सुधरने वाली है, उसके लिए सामाजिक आंदोलनों की जरूरत पड़ती है जो होने चाहिए। सत्ताधीशों के सिर्फ चेहरे बदलते हैं चरित्र कभी नहीं बदलता है।[17]

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

तुलसीराम ने हिन्दू समाज की सबसे बड़ी बुराई धर्म को बताया है। उन्होंने यह कहा है कि सारे संसार में 350 प्रकार के धर्म पाए जाते हैं, जिनमें एक मात्र हिन्दू ऐसा धर्म है जिसके देवी-देवता शस्त्र बद्ध दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने कहा कि जब ऐसे खूँखार देवता, जिनके पास अस्त्र-शस्त्र हों तो उनके पूजने वाले कितने खूँखार हो सकते हैं। उन्होंने भारत से बौद्ध-धर्म के पतन की भी दास्ताँ बतायी है। किस तरह से दक्षिण का शंकराचार्य आठवीं-नवीं शताब्दी में सारे भारत से बौद्ध-मठों को तहस-नहस करवा के ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा सैनिक के जोर से की थी। बौद्ध-धर्म के द्वारा प्रभावित संत-साहित्य भी अपने समय में कुरीतियों के खिलाफ मुखर था, जिसके पुरोधा संत कबीर और अन्य संत कवि थे। इन्होंने हिन्दू-धर्म के भीतर छिपी हुए बुराइयों को बेनकाब करने का काम किया था। जिसका अगला विस्तार दलित-साहित्य है।

दलित साहित्य पर उनकी बेबाक राय है कि "जाति व्यवस्था के विरोध में लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है, वह चाहे कोई भी लिखे।" तुलसीराम की असल चिंता जातीय ध्रुवीकरण की थी। उनका मानना है कि यदि जातीय आधार मजबूत होता रहेगा तो समाज में समरसता कभी नहीं आ पायेगी अतः जाति के समीकरण को बढ़ावा नहीं मिलना चाहिए। यदि हम इतिहास उठाकर देखें तो पाते हैं कि भारत में जाति को मजबूत करने का जिम्मा 'शूद्र' कहे जाने वाले लोगों ने ही उठा रखा है। जातियों और वर्णाश्रमों को पैदा करने वाले ब्राह्मण खुद इनमें विश्वास नहीं करते हैं। जाति व्यवस्था को संचालित करने वाले वर्ग पर टिप्पणी करते हुए तुलसीराम कहते हैं-"आप किसी शहर पर परमाणु बम गिरा दीजिये तो वह उसकी एक-दो पीढ़ियों को ही नष्ट कर पायेगा। लेकिन हमारे समाज पर थोपी गयी जाति व्यवस्था पीढ़ी-दर-पीढ़ी संभावनाओं का संहार करती आ रही है।" इसीलिये वे अम्बेडकर के हवाले से कहते हैं कि-"जाति व्यवस्था हिन्दू धर्म की साँस है।" यदि आप हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों से छुटकारा पाना चाहते हैं और समाज में मानव होकर जीना चाहते हैं साथ ही इस देश को बचाना चाहते हैं तो इस साँस को बंद करना ही होगा।
हिन्दू-धर्म कई मोड़ों को साथ लेकर चलता है। वह धर्म के द्वारा संस्कृति और संस्कृति के माध्यम से मिथकों का निर्माण करता है। ये मिथक जन सामान्य में इस तरह बस गए हैं कि उनसे पार पाना मुश्किल हो रहा है। तुलसीराम ने ज्योतिबा फुले का उदाहरण देते हुए कहा कि-"एक गरीब ब्राह्मण इतना ज्यादा अंधविश्वास को फैलाता है, इतना ज्यादा मिथकों को फैलाता है, कितना ज्यादा वो जातिवाद को फैलाता है कि अमीर ब्राह्मण उसका कुछ नहीं कर सकता जितना कि वह दलित ब्राह्मण।" फुले की 'गुलामगीरी' में गुलाम बनाने के कारण भी उन्होंने गिनाये हैं- अंधविश्वास, मिथकों का प्रचार, अशिक्षा। इन तीनों के द्वारा महात्मा फुले को भी कष्ट उठाना पड़ा था। उन्होंने आज की शिक्षित पीढ़ी को भी सवाल के घेरे में लेते हुए कहा है कि-"पढ़े-लिखे होने से ही शिक्षित होना नहीं होता है। बल्कि पढ़ लिखकर के जो आदमी एक तरह से अशिक्षितों की तरह व्यवहार करे यानी[18] अन्धविश्वास, मिथकों में विश्वास करे तो वह पढ़ा-लिखा नहीं होता।" तुलसीराम ने धर्मकीर्ति के हवाले से मूर्खों की पहचान भी गिनाई है-

वह व्यक्ति जो ईश्वर में विश्वास रखता है
वह व्यक्ति जो संसार कर्ता किसी अन्य ईश्वर को मानता है।
वह व्यक्ति जो नदी-नाले में नहाने को धर्म समझता है।
वह व्यक्ति जो शरीर को कष्ट देकर व्रत रखता है।
वह व्यक्ति जो जाति पर गर्व करता है।

इन पाँच लक्षणों से संपन्न जो भी व्यक्ति जड़ता का मारा है वे मूर्ख कहलाते हैं। भारत में ये पाँच गुण जिस व्यक्ति में होते हैं वह साधु या महात्मा कहलाता है। जातीय गौरव और अभिमान का पूरा इतिहास ही भरा पड़ा है इस देश का। तुलसीराम की दृष्टि समाज में पायी जाने वाली कुरीतियों की ओर लगी थी। जड़ता, अंधविश्वास, अशिक्षा, धर्म का अतिशय प्रचार, राजनीतिक गैर जिम्मेदारी, सामाजिक आंदोलनों का समाप्त होते जाना एवं जातिवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था का मजबूत होते जाना। ये कुछ ऐसे कारण बताये हैं जिनके कारण अर्जक समाज आज भी कष्ट उठाता है और असमानता का शिकार होता है। सामंती समाज होने से समाज में भुखमरी-गरीबी की हालत बनी हुयी है।

| e-ISSN: 2319-8753, p-ISSN: 2347-6710| www.ijirset.com | Impact Factor: 8.118|

||Volume 11, Issue 7, July 2022||

| DOI:10.15680/IJIRSET.2022.1107179 |

वे पूंजीवादी देशों की कारगुजारियों का भी पर्दाफाश करते हैं। राजनीति विषय के विद्वान होने के कारण उन्होंने विश्व-स्तर की राजनीति और उसमें अमरीका की दलाली को भी बेनकाब किया है। उनके मत से इस संसार में पूंजीपति वर्ग की ही देन है आज का आतंकवाद, नक्सलवाद आदि जिनकी आड़ में हथियार की सप्लाई, ड्रग्स का व्यापार, धर्म के धंधे आदि बढ़ रहे हैं। पी. हंटिंगटन की किताब 'द कलैस आफ सिविलाईजेसन' की थ्योरी के आधार पर कि "यदि दुश्मन नहीं है तो पैदा करो" की नीति पर चलकर अमेरिका ने दादागीरी करनी शुरू कर दी। उसकी देखा-देखी पश्चिम के अन्य देशों ने वही राह पकड़ ली है। ऐसे में वे यह मानते हैं कि अब के दौर में सबसे बड़ा खतरा समाजवाद के ऊपर है।

मार्क्सवाद जिस थ्योरी पर विकसित हुआ था उसके कुछ कारण थे जिनमें फ्रेंच सोसलिज्म, जर्मन आइडियोलॉजी, और ब्रिटिश पोलिटिकल इकोनामी। और मार्क्स के द्वारा सृजित पाँच वे वर्ग जो उनके सिद्धांत के रीढ़ बने थे। अब भूमंडलीकरण के कारण जब सोवियत संघ का विघटन हो गया तब ऐसे देश जो रसिया को समाजवाद का आइना मानते थे, उनका क्या होगा? रसिया में समय के साथ हथियारों की होड़ सामने आयी। वह भी पूंजीवादी देशों के नक्शे-कदम पर चलना शुरू कर चुका है। रसिया में किसानों की जमीन को सरकारी करने के लिए स्टालिन ने लगभग तीस लाख किसानों को मरवा डाला था। जिसका उल्लेख शायद कहीं नहीं किया गया है।

आज सबसे बड़ी समस्या उसके सामने ही खड़ी हो गयी है। ऐसे में फासीवाद को बढ़ावा मिलना ज्यादा आसान हो जाता है। भारत के संदर्भ में समाजवाद की उनकी दृष्टि एकदम साफ़ है। वे यहाँ के छद्म मार्क्सवादियों के प्रति कठोर विचार भी रखते हैं। तुलसीराम भारतीय राजनीति एवं 'आर. एस. एस'. और 'विश्व हिन्दू' परिषद् की नीति पर खुल कर बोलते हैं। उनका मानना है कि "यदि इस देश में फासीवादी ताकतें मजबूत हुईं तो संसार में कम से कम पचास देश फासीवादी हो जायेंगे।" इसलिए इस देश को, इस देश के लोकतंत्र को बचाना है तो समाजवादी विचारधारा के साथ अम्बेडकर के विचारों को और इस देश के कानून को मजबूत बनाना होगा।[17]

यदि हम तुलसीराम के योगदान की समीक्षा करें तो पाते हैं कि वे ऐसा मुल्क चाहते थे जिसमें कानून का राज हो, समाज में समानता हो, मानवतावाद को बढ़ावा मिले, सबका उचित हक़ मिले, शिक्षा-स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाएं मिलें और एक स्वस्थ और संपन्न राष्ट्र बने। धर्म-अंधविश्वास की तिलस्मी दुनिया से तार्किक आधार पर संघर्ष हो, वैज्ञानिकता को बढ़ावा मिले एवं जातीय गौरव को नष्ट किया जाय। व्यक्ति को व्यक्ति समझा जाये। [18]

संदर्भ

1-भारत डिस्कवरी. 17/03/2019, 4.00 pm
2-बीबीसी हिंदी /प्रो. तुलसीराम प्रोफाइल. 17/03/2019, 6:10pm
3-फेसबुक. कॉम 20/03/201, 8:00am
4-भड़ास फार मीडिया. 20/03/2019, 10:00am
5-समय बुद्धा वर्ड प्रेस/दलित राजनीति का पोस्टमार्टम, प्रो. तुलसीराम 21/03/2019, 11:00 am
6-अपनी माटी डॉट काम 2015/04/ ब्लॉग पोस्ट 30.html. 21/03/2019, 1:00pm
7-एकेड्मिया एजुकेशन. 22/03/2019, 12:00pm
8-फारवर्ड-प्रेस 2018/02/बुद्धा श्रमण- चिन्तन परंपरा के चिंतक तुलसीराम 22/03/2019, 1:00 pm
9-यूट्यूब .कॉम 22/03/2019, 2:00pm
10-यूट्यूब .कॉम 23/03/2019, 4:00pm
11-यूट्यूब .कॉम 23/03/2019, 5:00pm
12-यूट्यूब .कॉम 24/03/2019, 9:00am
13-यूट्यूब .कॉम 24/03/2019, 11:00am
14-यूट्यूब .कॉम 25/03/2019, 10:00am
15-यूट्यूब .कॉम 25/03/2019, 11:00am
16-यूट्यूब .कॉम 26/03/2019, 10:00am
17-यूट्यूब .कॉम 26/03/2019, 2:00pm
18-यूट्यूब .कॉम 26/03/2019, 11:00pm

INNO SPACE
SJIF Scientific Journal Impact Factor
Impact Factor: 8.118

doi crossref

INTERNATIONAL STANDARD SERIAL NUMBER INDIA

निस्केयर
NISCAIR

INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE RESEARCH

IN SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

9940 572 462 6381 907 438 ijirset@gmail.com

Scan to save the contact details